

ग्रन्थपरीक्षा : जिनसेन-त्रिवर्णाचार

इस त्रिवर्णाचार का दूसरा नाम 'उपासकाध्ययनसारोद्धार' भी है, ऐसा इस ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि से प्रकट होता है। यह ग्रन्थ किस समय बना है और किसने बनाया है, इसका पृथक् रूप से कोई स्पष्टोल्लेख इस ग्रन्थ में किसी स्थान पर नहीं किया गया है। कोई 'प्रशस्ति' भी इस ग्रन्थ के साथ लगी हुई नहीं है। ग्रन्थ की सन्धियों में ग्रन्थकर्ता का नाम कहीं पर 'श्रीजिनसेनाचार्य' कहीं 'श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य' कहीं श्रीजिनसेनाचार्य नामांकित विद्वज्जन' और कहीं 'श्रीभट्टारकवर्य जिनसेन' दिया है। इस सन्धियों में से पहली सन्धि इस प्रकार है—

“इत्यार्षे श्रीमद्भगवन्मुखारविंदाद्विनिर्गते श्रीगौतमर्षिपदपद्माराधकेन श्रीजिनसेनाचार्येण विरचिते त्रिवर्णाचारे उपासकाध्ययनसारोद्दारे श्रीश्रेणिकमहामण्डलेश्वरप्रश्रकथनश्रीमद्वृषभदेवस्य पञ्चकल्याणक-वर्णनद्विजोत्पत्ति-भरतराजदृष्टषोडशस्वप्नफलवर्णनं नाम प्रथमः पर्वः।”

सन्धियों को छोड़कर किसी किसी पर्व के अन्तिम पद्यों में ग्रन्थकर्ता का नाम 'मुनि जैनसेन' या 'भट्टारक जैनसेन' भी लिखा है। परन्तु इस कोरे नामनिर्देश से इस बात का निश्चय नहीं हो सकता कि यह ग्रन्थ कौनसे 'जिनसेन' का बनाया हुआ है। क्योंकि जैन समाज में 'जिनसेन' नाम के धारक अनेक आचार्य और ग्रन्थकर्ता हो गये हैं। जैसा कि आदिपुराण और पार्श्वभ्युदय आदि ग्रन्थों के प्रणेता भगवज्जिनसेन, हरिवंश पुराण के रचयिता दूसरे जिनसेन, हरिवंशपुराण की 'प्रशस्ति' में जिनका जिक्र है वे तीसरे जिनसेन, श्रीमल्लिषेणाचार्यप्रणीत महापुराण की 'प्रशस्ति' में जिनका उल्लेख है वे चौथे जिनसेन और जैनसिद्धान्तभास्कर द्वारा प्रकाशित सेनगण की पट्टावली में जिनका नाम है, वे सोमसेन भट्टारक के पट्टाधीश पाँचवें जिनसेन, इत्यादि। ऐसी अवस्था में बिना किसी विशेष अनुसन्धान के किसी को एकदम यह कहने का साहस नहीं हो सकता कि यह त्रिवर्णाचार अमुक जिनसेन का बनाया हुआ है। यह भी सम्भव है कि जिनसेन के नाम से किसी दूसरे ही व्यक्ति ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया हो। इसलिए अनुसन्धान की बहुत बड़ी जरूरत है। ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता के नाम के साथ कहीं-कहीं 'भट्टारक' शब्द का संयोग पाया जाता है, पर यह संयोग इस अनुसन्धान में कुछ भी सहायता नहीं देता। क्योंकि 'भट्टारक' शब्द यद्यपि कुछ काल से शिथिलाचारी और परिग्रहधारी साधुओं-श्रमणाभासों के लिए व्यवहृत होने लगा है, परन्तु वास्तव में यह एक बड़ा ही गौरवान्वित पद है। शास्त्रों में बड़े-बड़े प्राचीन आचार्यों और तीर्थङ्करों तक के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। आदिपुराण में भगवज्जिनसेन ने भी 'श्रीवीरसेनइत्यात्त भट्टारकपृथुप्रथः' इस पद के द्वारा अपने गुरु 'वीरसेन' को 'भट्टारक' पदवी से विभूषित वर्णन किया है। बहुत से लोगों का ऐसा खयाल है कि यह त्रिवर्णाचार आदिपुराण के प्रणेता श्रीजिनसेनाचार्य का, जिन्हें इस लेख में आगे बराबर 'भगवज्जिनसेन'

लिखा जायेगा, बनाया हुआ है। परन्तु यह केवल उनका खयाल ही है। उनके पास उसके समर्थन में ग्रन्थ की सन्धियों में दिये हुए 'इत्यार्षे' और 'भगवज्जिनसेन', इन शब्दों को छोड़कर और कोई भी प्रमाण मौजूद नहीं है। ऐसे नाममात्र के प्रमाणों से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। भगवज्जिनसेन के पीछे होने वाले किसी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में भी इस ग्रन्थ का कहीं नामोल्लेख नहीं मिलता। इसलिए ग्रन्थ के साहित्य की जाँच को छोड़कर कोई भी उपयुक्त साधन इस बात के निर्णय का नहीं है कि यह ग्रन्थ वास्तव में कब बना है और किसने बनाया है।

जिस समय इस ग्रन्थ को परीक्षादृष्टि से अवलोकन किया जाता है, उस समय इसमें कुछ और ही रंग और गुल खिला हुआ मालूम होता है। स्थान-स्थान पर ऐसे पद्यों या पद्यों के ढेर के ढेर नजर पड़ते हैं, जो बिल्कुल ज्यों के त्यों दूसरे ग्रन्थों से उठाकर ही नहीं, किन्तु चुराकर रखे गये हैं। ग्रन्थकर्ता ने उन्हें अपने ही प्रकट किये हैं। और तो क्या, मंगलाचरण तक भी इस ग्रन्थ का अपना नहीं है, वह भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ से उठाकर रखा गया है। यथा—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥१॥

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥२॥

इसी से पाठकगण समझ सकते हैं कि यह ग्रन्थ भगवज्जिनसेन का बनाया हुआ हो सकता है या कि नहीं। जैन समाज में भगवज्जिनसेन एक प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य माने जाते हैं। उनकी अनुपम काव्यशक्ति की बहुत से विद्वानों, आचार्यों और कवियों ने मुक्त कण्ठ से स्तुति की है। जिन विद्वानों को उनके बनाये हुए संस्कृत के आदिपुराण और पार्श्वार्थ्युदय आदि काव्य ग्रन्थों को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि भगवज्जिनसेन कितने बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् हुए हैं। कविता करना तो उनके लिए एक प्रकार का खेल था। तब क्या ऐसे कविशिरोमणि मंगलाचरण तक भी अपना बनाया हुआ न रखते? यह कभी हो नहीं सकता। त्रिवर्णाचार के सम्पादक ने इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय से केवल मंगलाचरण के दो पद्य ही नहीं लिये, बल्कि इन पद्यों के अनन्तर का तीसरा पद्य भी लिया है, जिसमें ग्रन्थ का नाम देते हुए परमागम के अनुसार कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है। यथा—

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।

अस्माभिरुपोद्ध्यते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥३॥

इस पद्य से साफ़तौर पर चोरी प्रकट हो जाती है और इसमें कोई सन्देह बाकी नहीं रहता कि ये तीनों पद्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ से उठाकर रखे गये हैं। क्योंकि इस तीसरे पद्य में स्पष्टरूप से ग्रन्थ का नाम पुरुषार्थसिद्ध्युपाय दिया है। यद्यपि इस पद्य को उठाकर रखने से ग्रन्थकर्ता की योग्यता का कुछ परिचय जरूर मिलता है। परन्तु, वास्तव में, इस त्रिवर्णाचार का सम्पादन करने वाले कैसे

योग्य व्यक्ति थे, इसका विशेष परिचय, पाठकों को इस लेख में, आगे चलकर मिलेगा। यहाँ पर इस समय कुछ ऐसे प्रमाण पाठकों के सन्मुख उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाये कि यह ग्रन्थ (त्रिवर्णाचार) भगवज्जिनसेन का बनाया हुआ नहीं है और न हरिवंशपुराण के कर्ता दूसरे जिनसेन या तीसरे और चौथे जिनसेन का ही बनाया हो सकता है—

(१) इस ग्रन्थ के दूसरे पर्व में ध्यान का वर्णन करते हुए यह प्रतिज्ञा की है कि मैं ‘ज्ञानार्णव’ ग्रन्थ के अनुसार ध्यान का कथन करता हूँ। यथा—

ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मतम् (२-३)

ज्ञानार्णव ग्रन्थ, जिसमें ध्यानादि का विस्तार के साथ कथन है, श्री शुभचन्द्राचार्य का बनाया हुआ है। शुभचन्द्राचार्य का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है और उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में ‘जिनसेन’ का स्मरण भी किया है। इससे स्वयं ग्रन्थमुख से ही प्रकट है कि यह त्रिवर्णाचार ज्ञानार्णव के पीछे बना है और इसलिए भगवज्जिनसेन का बनाया हुआ नहीं हो सकता। और न हरिवंशपुराण के कर्ता दूसरे जिनसेन या तीसरे जिनसेन का ही बनाया हुआ हो सकता है। क्योंकि हरिवंशपुराण के कर्ता श्रीजिनसेनाचार्य भगवज्जिनसेन के प्रायः समकालीन ही थे। उन्होंने हरिवंशपुराण को शक संवत् ७०५ (वि०सं० ८४०) में बनाकर समाप्त किया है। जब हरिवंशपुराण से बहुत पीछे बनने के कारण यह ग्रन्थ हरिवंशपुराण के कर्ता का बनाया हुआ नहीं हो सकता, तब यह स्वतः सिद्ध है कि हरिवंशपुराण की प्रशस्ति में हरिवंशपुराण के कर्ता से पहले होने वाले, जिन तीसरे जिनसेन का उल्लेख है, उनका भी बनाया हुआ यह नहीं हो सकता।

(२) ग्रन्थ के चौथे पर्व में एक पद्य इस प्रकार दिया है—

प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः ।
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम्॥
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वम् ।
जल्पं जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम्॥१२७॥

यह पद्य श्रीवादिराजसूरिविरचित ‘एकीभाव’ स्तोत्र का है। वहीं से उठाकर रखा गया है। वादिराजसूरि विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने शक संवत् ९४७ (वि० सं० १०८२) में ‘पार्श्वनाथचरित’ की रचना की है। इसलिए यह त्रिवर्णाचार उनसे पीछे का बना हुआ है और कदापि दो शताब्दी पहले होने वाले भगवज्जिनसेनादि का बनाया हुआ नहीं हो सकता।

(३) इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर गोम्मटसार की गाथायें भी पाई जाती हैं। १४वें पर्व में आई हुई गाथाओं में से एक गाथा इस प्रकार है—

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बंभतावसो विणओ ।
इंदोविय संसयिदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी॥१२॥

यह गाथा गोम्मटसार में नम्बर १६ पर दर्ज है। गोम्मटसार ग्रन्थ श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती का

बनाया हुआ है, जो कि महाराजा चामुण्डराय के समय में विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए हैं। इससे भी यह त्रिवर्णाचार भगवज्जिनसेनादि से बहुत पीछे का बना हुआ सिद्ध होता है।

(४) इस ग्रन्थ के चौथे पर्व में एक स्थान पर ग्रन्थों को और दूसरे स्थान पर ऋषियों को तर्पण किया है। ग्रन्थों के तर्पण में आदिपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण और गोम्मटसार को भी अलग-अलग तर्पण किया है। ऋषियों के तर्पण में प्रथम तो लोहाचार्य के पश्चात् 'जिनसेन' को तर्पण किया है (जिनसेनस्तृप्यतां); फिर वीरसेन के पश्चात् 'जिनसेन' का तर्पण किया है और फिर नेमिचन्द्र तथा गुणभद्राचार्य का भी तर्पण किया है। १०वें पर्व में जिनसेन मुनि की स्तुति भी लिखी है और चौथे पर्व के एक श्लोक में जिनसेन का हवाला दिया है। यथा—

सकलवस्तुविकाशदिवाकरं भुविभवारणवतारणनौसमं।

सुरनरप्रमुखैरुपसेवितं सुजिनसेनमुनिं प्रणमाम्यहम्॥१०/२॥

वाचिकस्त्वेक एव स्यादुपांशुः शत उच्यते।

सहस्रमानसः प्रोक्तो जिनसेनादसूरिभिः॥४-१३३॥

इस सब कथन से भी यही प्रकट होता है कि यह ग्रन्थ भगवज्जिनसेन या हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन का बनाया हुआ नहीं है। भगवज्जिनसेन के समय में आदिपुराण अधूरा था, उत्तरपुराण का बनना प्रारम्भ भी नहीं हुआ था और गोम्मटसार तथा उसके रचयिता श्रीनेमिचन्द्र का अस्तित्व ही न था।

(५) इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर एकसंधि भट्टारककृत 'जिनसंहिता' से सैंकड़ों श्लोक उठाकर ज्यों के त्यों रखे हुए हैं। एक स्थान पर (पाँचवें पर्व में) एकसंधि भट्टारक की बनाई हुई संहिता के अनुसार होमकुंडों का लक्षण वर्णन करने की प्रतिज्ञा भी की है और साथ ही तद्विषयक कुछ श्लोक भी उद्धृत किये हैं। वह प्रतिज्ञावाक्य और संहिता के दो श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

लक्षणं होमकुण्डानां वक्ष्ये शास्त्रानुसारतः।

भट्टारकैकसंधेश्च दृष्ट्वा निर्मलसंहिताम्॥१०३॥

त्रिकोणं दक्षिणे कुण्डं कुर्याद्वर्तुलमुत्तरे।

तत्रादिमेखलायाश्चाप्यवसेयाश्च पूर्ववत्॥ (५-११०)

अथ राजन् प्रवक्ष्यामि शृणु भो जातिनिर्णयम्।

यस्मिन्नव परिज्ञानं स्यात् त्रैवर्णिकशूद्रयोः॥ (११-२)

अन्त के दोनों श्लोक 'जिनसंहिता में' क्रमशः नम्बर २१० और ४३ पर दर्ज हैं। एकसंधिभट्टारक भगवज्जिनसेन से बहुत पीछे हुए हैं। उनका समय विक्रम की १३वीं शताब्दी के लगभग पाया जाता है। उन्होंने खुद अपनी संहिता में बहुत से श्लोक आदिपुराण से उठाकर रखे हैं, जिनमें से दो श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

वाञ्छन्त्यो जीविकां देव त्वां वयं शरणं श्रिताः ।
तन्नस्त्रायस्व लोकेश तदुपायप्रदर्शनात्॥४७॥
श्रुत्वेति तद्वचो दीनं करुणाप्रेरिताशयः ।
मनः प्रणिदधावेवं भगवानादिपुरुषः॥४८॥

ये दोनों श्लोक आदिपुराण के १६वें पर्व के हैं। इस पर्व में इनका नम्बर क्रमशः १३६ और १४२ है। इससे भी प्रकट है कि यह ग्रन्थ भगवज्जिनसेन का बनाया हुआ नहीं है।

(६) श्रीसोमदेवसूरिविरचित 'यशस्तिलक', श्रीहेमचन्द्राचार्यप्रणीत 'योगशास्त्र' और श्री जिनदत्त-सूरिकृत 'विवेकविलास' के पद्य भी इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं, जिनका एक-एक नमूना इस प्रकार है—

क- श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः ।

यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥१४-१११॥

यह श्लोक यशस्तिलक के आठवें आश्वास का है।

ख- अहो मुखेवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् ।

निशाभोजनदोषज्ञोऽश्रात्यसौ पुण्यभाजनम्॥१४-८७॥

यह योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश का ६३वाँ पद्य है।

ग- शाश्वतानंदरूपाय तमस्तोमैकभास्वते ।

सर्वज्ञाय नमस्तस्मै कस्मैचित्परमात्मने॥९-१॥

यह श्लोक विवेकविलास का आदिम मंगलाचरण है।

श्रीसोमदेवसूरि विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने विक्रम संवत् १०१६ (शक संवत् ८८१) में यशस्तिलक को बनाकर समाप्त किया है। श्वेताम्बराचार्य श्रीहेमचंद्रजी राजा कुमारपाल के समय में अर्थात् विक्रम की १३वीं शताब्दी में (सं० १२२९ तक) विद्यमान थे और श्वेताम्बर साधु श्रीजिनदत्तसूरि भी विक्रम की १३वीं शताब्दी में हुए हैं। इन आचार्यों के उपर्युक्त ग्रन्थों से जब पद्य लिये गये हैं, तब साफ़ प्रकट है कि यह त्रिवर्णाचार उनसे भी पीछे बना है और इसलिए श्रीमल्लिषेणाचार्यकृत 'महापुराण' की प्रशस्ति में उल्लिखित मल्लिषेण के पिता चौथे श्रीजिनसेनसूरि का बनाया हुआ भी यह ग्रन्थ नहीं हो सकता। क्योंकि मल्लिषेण ने शक संवत् ९६९ (वि०सं० ११०४) में 'महापुराण को' बनाकर समाप्त किया है।

(७) इस ग्रन्थ के चौथे पर्व में एक स्थान पर 'सिद्धभक्तिविधान' का वर्णन करते हुए दस पद्यों में सिद्धों की स्तुति दी है। इस स्तुति का पहला और अन्त का पद्य इस प्रकार है—

यस्यानुग्रहतो दुराग्रहपरित्यक्तादिरूपात्मनः,
सद्द्रव्यं चिदचित्त्रिकालविषयं स्वैः स्वैरभीक्ष्णं गुणैः॥
सार्थं व्यंजनपर्ययैः समभवज्जानाति बोधः स्वयं,
तत्सम्यक्त्वमशेषकर्मभिदुरं सिद्धाः परं नौमि वः॥१॥

उत्कीर्णामिव वर्तितामिव हृदि न्यस्तामिवालोका-
 न्नेतां सिद्धगुणस्तुतिं पठति यः शाश्वच्छिवाशाधरः।
 रूपातीतसमाधिसाधितवपुः पातः पतद्दुष्कृत-
 ब्रातः सोऽभ्युदयोपभुक्तसुकृतः सिद्धेत्तृतीये भवे॥१०॥

यह स्तुति पण्डित आशाधरकृत 'नित्यमहोद्योत' ग्रन्थ से, जिसे बृहच्छांतिकाभिषेक विधान भी कहते हैं, ज्यों की त्यों उठाकर रखी हुई है। इसके दसवें पद्य में आशाधर जी ने युक्ति के साथ अपना नाम भी दिया है। सागारधर्माभ्युदय और भी अनेक ग्रन्थों में उन्होंने इस प्रकार की युक्ति से (शिवाशाधरः या बुधाशाधरः लिखकर) अपना नाम दिया है। नित्यमहोद्योत ग्रन्थ से और भी बहुत सा गद्य पद्य उठाकर रखा हुआ है। इसके सिवाय उनके बनाये हुए सागारधर्माभ्युदय से भी पचासों श्लोक उठाकर रखे गये हैं। उनमें से दो श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

नरत्वेऽपि पशुयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
 पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः॥१४/९॥
 कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्म लघुकर्मतयाऽद्विषन्।
 भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात्॥१४/११॥

ये दोनों श्लोक सागारधर्माभ्युदय के पहले अध्याय में क्रमशः नम्बर ४ और ९ पर दर्ज हैं। आशाधर जी विक्रम की १३वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने अनगारधर्माभ्युदय की टीका वि०सं० १३०० के कार्तिक मास में बनाकर पूर्ण की है। ऐसा उक्त टीका के अन्त में उन्हीं के वचनों से प्रकट है। पण्डित आशाधर जी के वचनों का इस ग्रन्थ में संग्रह होने से साफ़ जाहिर है कि यह त्रिवर्णाचार १३वीं शताब्दी के पीछे बना है और इसलिए शताब्दियों पहले होने वाले भवज्जिनसेनादि का बनाया हुआ नहीं हो सकता।

(८) अन्यमत के ज्योतिष ग्रन्थों में मुहूर्तचिन्तामणि नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ नीलकण्ठ के अनुज (छोटेभाई) रामदैवज्ञ ने शक संवत् १५२२ (विक्रम सं० १६५७) में निर्माण किया है।^{१२} इस ग्रन्थ पर संस्कृत की दो टीकायें हैं। पहली टीका का नाम 'प्रमिताक्षरा' है, जिसको स्वयं ग्रन्थकर्ता ने बनाया है और दूसरी टीका 'पीयूषधरा' नाम की है, जिसको नीलकण्ठ के पुत्र गोविन्द दैवज्ञ ने शक संवत् १५२५ (वि०सं० १६६०) में बनाकर समाप्त किया है।^{१३} इस मुहूर्तचिन्तामणि के

१२. यथा— “तदात्मज उदारधीर्विबुधनीलकण्ठानुजो। गणेशपदपंकजं हृदि निधाय रामाभिधः॥

गिरीशनगरे वरे भुजभुजेषु चन्द्रैर्मिते (१५२२) शके विनिरमादिमं खलु मुहूर्तचिन्तामणिम्॥१४/३॥”

१३. जैसा कि टीका के अन्त में दिये हुए इस पद्य से प्रकट है—

“शाके तत्त्वतिथीमते (१५२५) युगगुणाब्दो नीलकण्ठात्मभूर्दुग्धाब्धिं निखिलार्थयुक्तममलं मौहूर्तचिन्तामणिम्।

काश्यां वाक्यविचारमंदरनगेनामथ्य लेखप्रियाम्। गोविन्दो विधिविद्वरोऽतिविमलां पीयूषधारां व्यधात्॥६/५॥”

संस्कार प्रकरण से बीसों श्लोक और उन श्लोकों की टीकाओं से बहुत-सा गद्यभाग और पचासों पद्य ज्यों के त्यों उठाकर इस त्रिवर्णाचार के १२वें और १३वें पर्व में रखे हुए हैं। मूल ग्रन्थ और उसकी टीका से उठाकर रखे हुए पद्यों का तथा गद्य का कुछ नमूना इस प्रकार है—

विप्राणां व्रतबन्धनं निगदितं गर्भाज्जनेर्वाष्टमे।
वर्षे वाप्यथ पञ्चमे क्षितिभुजां षष्ठे तथैकादशे॥
वैश्यानां पुनरष्टमेप्यथ पुनः स्याद्द्वादशे वत्सरे।
कालेऽथ द्विगुणे गते निगदितं गौणं तदाहुर्बुधाः॥१३/८॥
कविज्य चन्द्रलग्ना रिपौ मृतौ व्रतेऽधमाः।
व्ययेब्जभार्गवौ तथा तनौ मृतौ सुते खलाः॥१३/१९॥

“गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भाष्टमेषु राजन्यं गर्भद्वादशेषु वैश्यमिति बहुत्वान्यथानुपपत्त्या-गर्भषष्ठगर्भ-सप्तमगर्भाष्टमेषु सौरवर्षेष्विति वृत्तिकृद्वाख्यानात्त्रयाणामपि नित्यकालता।”

ऊपर के दोनों पद्य मुहूर्तचिन्तामणि के पाँचवें प्रकरण में क्रमशः नम्बर ३९ और ४१ पर दर्ज हैं और गद्यभाग पहले पद्य की टीका से लिया गया है। मुहूर्तचिन्तामणि और उसकी टीकाओं से इस प्रकार गद्य पद्य को उठाकर रखने में जो चालाकी की गई है और जिस प्रकार से अंधकार के जमाने में, लोगों की आँखों में धूल डाली गयी है, पाठकों को उसका दिग्दर्शन आगे चलकर कराया जायेगा। यहाँ पर सिर्फ इतना बतला देना काफी है कि जब इस त्रिवर्णाचार में मुहूर्तचिन्तामणि के पद्य और उसकी टीकाओं का गद्य भी पाया जाता है, तब इसमें कोई भी सन्देह बाकी नहीं रहता कि यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १६६० से भी पीछे का बना हुआ है।

(९) वास्तव में यह ग्रन्थ सोमसेन त्रिवर्णाचार (धर्मरसिकशास्त्र) से भी पीछे का बना हुआ है। ‘सोमसेन त्रिवर्णाचार’ भट्टारक सोमसेन का बनाया हुआ है।^{१४} और विक्रम संवत् १६६५ के कार्तिक मास में बनकर पूरा हुआ है, जैसा कि उसके निम्नलिखित पद्य से प्रकट है—

अब्दे तत्त्वरसर्तुचन्द्र (१६६५) कलिते श्रीविक्रमादित्यजे।
मासे कार्तिकनामनीह धवले पक्षे शरत्सम्भवे॥
वारे भास्वति सिद्धनामनि तथा योगे सुपूर्णातिथौ।
नक्षत्रेऽश्वनिनामि धर्मरसिको ग्रन्थश्च पूर्णीकृतः॥१३/२१६॥

जिनसेन-त्रिवर्णाचार में ‘सोमसेनत्रिवर्णाचार’ प्रायः ज्यों के त्यों उठाकर रखा हुआ है। कई पर्व इस ग्रन्थ में ऐसे हैं जिनमें सोमसेन त्रिवर्णाचार के अध्याय मंगलाचरण-सहित ज्यों के त्यों नकल किये गये हैं। “सोमसेनत्रिवर्णाचार की श्लोकसंख्या, उसी ग्रन्थ में, अन्तिम पद्य द्वारा दो हजार सात सौ (२७००) श्लोक प्रमाण वर्णन की है” इस संख्या में से सिर्फ ७२ पद्य छोड़े गये हैं और बीस-बाईस

१४. इस सोमसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा भी एक स्वतन्त्र लेख द्वारा की जायेगी। -लेखक

पद्यों में कुछ थोड़ा-सा नामादिक का परिवर्तन किया गया है, शेष कुल पद्य जिनसेन त्रिवर्णाचार में ज्यों के त्यों, जहाँ जब जी में आया, नकल कर दिये हैं।

सोमसेनत्रिवर्णाचार में प्रत्येक अध्याय के अन्त में सोमसेन भट्टारक ने पद्य में अपना नाम दिया है। इन पद्यों को जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता ने कुछ-कुछ बदलकर रखा है। जैसा कि नीचे के उदाहरणों से प्रकट होता है—

१. धन्यः स एव पुरुषः समतायुतो यः। प्रातः प्रपश्यति जिनेन्द्रमुखारविन्दम्॥

पूजासु दानतपसि स्पृहणीयचित्तः। सेव्यः सदस्सु नृसुरैर्मुनिसोमसेनैः॥

(सोमसेन त्रि. अ. १ श्लो. ११६)

जिनसेनत्रिवर्णाचार के दूसरे पर्व में यही पद्य नम्बर ९२ पर दिया है, सिर्फ 'मुनिसोमसेनैः' के स्थान में 'मुनिजैनसेनैः' बदला हुआ है।

२. शौचाचारविधिः शुचित्वजनकः प्रोक्तो विधानागमे

पुंसां सद्व्रतधारिणां गुणवतां योग्यो युगेऽस्मिन्कलौ।

श्रीभट्टारकसोमसेनमुनिभिः स्तोकोऽपि विस्तारतः

प्रायः क्षत्रियवैश्यविप्रमुखकृत् सर्वत्र शूद्रोऽप्रियः॥

(सोम.त्रि. अ. २ श्लो. ११५)

जिनसेनत्रिवर्णाचार में यही पद्य तीसरे पर्व के अन्त में दिया है। केवल 'सोमसेन' के स्थान में उसी के वजन का 'जैनसेन' बनाया गया है। इसी प्रकार नामसूचक सभी पद्यों में 'सोमसेन' की जगह 'जैनसेन' का परिवर्तन किया गया है। किसी भी पद्य में जिनसेन ऐसा नाम नहीं दिया है। जिनसेनत्रिवर्णाचार में कुल १८ पर्व हैं और सोमसेनत्रिवर्णाचार के अध्यायों की संख्या १३ है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिनसेनत्रिवर्णाचार के इन १८ पर्वों में से जिन १३ पर्वों में सोमसेनत्रिवर्णाचार के १३ अध्यायों की प्रायः नकल की गई है, उन्हीं १३ पर्वों के अन्त में ऐसे पद्य पाये जाते हैं जिनमें ग्रन्थकर्ता का नाम 'सोमसेन' के स्थान में 'जैनसेन' दिया है, अन्यथा शेष पाँच पर्वों में (जो सोमसेन त्रिवर्णाचार से अधिक हैं) कहीं भी ग्रन्थकर्ता का नाम नहीं है।

सोमसेन भट्टारक ने अपने त्रिवर्णाचार में अनेक स्थानों पर यह प्रकट किया है कि मेरा यह कथन श्रीब्रह्मसूरि के वचनानुसार है, उन्हीं के ग्रन्थों को देखकर यह लिखा गया है। जैसा कि निम्नलिखित पद्यों से प्रकट होता है—

श्रीब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं

श्रीजैनमार्गप्रविबुद्धतत्त्वः।

वाचं तु तस्यैव विलोक्य शास्त्रं कृतं विशेषान्मुनिसोमसेनैः॥

(सोम.त्रि. ३/१४९)

कर्म प्रतीतिजननं गृहिणां यदुक्तं श्रीब्रह्मसूरिवरविप्रकवीश्वरेण ।
सम्यक् तदेव विधिवत्प्रविलोक्य सूक्तं, श्रीसोमसेनमुनिभिः शुभमंत्रपूर्वम्॥
(सो.त्रि. अ. ५ श्लो. अन्तिम)

विवाहयुक्तिः कथिता समस्ता संक्षेपतः श्रावकधर्ममार्गात् ।
श्रीब्रह्मसूरिप्रथितं पुराणमालोक्य भट्टारकसोमसेनैः॥
(सोम.त्रि.११/२०४)

वास्तव में सोमसेनत्रिवर्णाचार में ^{१५}ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार से बहुत कुछ लिया गया है और जो कुछ उठाकर या परिवर्तित करके रखा गया है, वह सब जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी उसी क्रम से मौजूद है। बल्कि इस त्रिवर्णाचार में कहीं कहीं पर सीधा ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार से भी कुछ मजमून उठाकर रखा गया है, जो सोमसेन त्रिवर्णाचार में नहीं था। जैसा कि छठे पर्व में ‘यंत्रलेखनविधि’ इत्यादि। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी जिनसेनत्रिवर्णाचार में उपर्युक्त तीनों पद्यों को इस प्रकार से बदलकर रखा है—

श्रीगौतमर्षिद्विजवंशरत्नं श्रीजैनमार्गप्रविबुद्धतत्त्वः ।
वाचं तु तस्यैव विलोक्य शास्त्रं कृतं विशेषान्मुनिजैनसेनैः॥
(पर्व ४ श्लो. अन्तिम) ।
कर्म प्रतीतिजननं गृहिणां यदुक्तं श्रीगौतमर्षिगणविप्रकवीश्वरेण ।
सम्यक् तदेव विधिवत्प्रविलोक्य सूक्तं श्रीजैनसेनमुनिभिः शुभमंत्रपूर्वम्॥
(पर्व ७ श्लोक अन्तिम) ।
विवाहयुक्तिः कथिता समस्ता संक्षेपतः श्रावकधर्ममार्गात् ।
श्रीगौतमर्षिप्रथितं पुराणमालोक्य भट्टारकजैनसेनैः॥
(पर्व १५ श्लोक अन्तिम)

इन तीनों पद्यों में सोमसेन के स्थान में ‘जैनसेन’ का परिवर्तन तो वही है, जिसका जिकर पहले आ चुका है। इसके सिवाय ‘श्रीब्रह्मसूरि’ के स्थान में ‘गौतमर्षि’ ऐसा विशेष परिवर्तन किया गया है। यह विशेष परिवर्तन क्यों किया गया और क्यों ‘ब्रह्मसूरि’ का नाम उड़ाया गया है, इसके विचार का इस समय अवसर नहीं है। परन्तु ग्रन्थकर्ता ने इस परिवर्तन से इतना जरूर सूचित किया है कि मैंने श्रीगौतमस्वामी के किसी ग्रन्थ या पुराण को देखकर इस त्रिवर्णाचार के ये तीनों पर्व लिखे हैं। श्रीगौतमस्वामी का बनाया हुआ कोई भी ग्रन्थ जैनियों में प्रसिद्ध नहीं है। श्रीभूतबलि आदि आचार्यों के समय में भी (जिस वक्त ग्रन्थों के लिखे जाने का प्रारम्भ होना कहा जाता है) गौतम स्वामी का बनाया हुआ कोई ग्रन्थ मौजूद न था और न किसी प्राचीन आचार्य के ग्रन्थ में उनके बनाये हुए ग्रन्थों

१५. अवसर मिलने पर, इस ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार की परीक्षा भी एक स्वतंत्र लेखद्वारा की जाएगी। —लेखक

की कोई सूची मिलती है। हाँ, इतना कथन जरूर पाया जाता है कि उन्होंने द्वादशांगसूत्रों की रचना की थी। परन्तु वे सूत्र भी लगभग दो हजार वर्ष का समय हुआ तब लुप्त हुए कहे जाते हैं। फिर नहीं मालूम जिनसेन त्रिवर्णाचार के कर्ता का गौतमस्वामी के बनाये हुए कौनसे गुप्त ग्रन्थ से साक्षात्कार हुआ था, जिसके आधार पर उन्होंने यह त्रिवर्णाचार या इसका चौथा, सातवाँ और पन्द्रहवाँ पर्व लिखा है। इन पर्वों को तो देखने से ऐसा मालूम होता है कि इनमें आदिपुराण, पद्मपुराण, एकीभावस्तोत्र, तत्त्वार्थसूत्र, पद्मनन्दपंचविंशतिका, नित्यमहोद्योत, जिनसंहिता और ब्रह्मसूरी-त्रिवर्णाचारादिक तथा अन्यमत के बहुत से ग्रन्थों के गद्यपद्य की एक विचित्र खिचड़ी पकाई गई है। अस्तु, परिवर्तनादिक की इन सब बातों से साफ़ जाहिर है कि यह ग्रन्थ सोमसेनत्रिवर्णाचार से अर्थात् विक्रम संवत् १६६५ से भी पीछे का बना हुआ है। वास्तव में ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता ने सोमसेन त्रिवर्णाचार को लेकर और उसमें बहुत सा मजमून इधर-उधर से मिलाकर उसका नाम 'जिनसेनत्रिवर्णाचार' रख दिया है। अन्यथा, जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता महाशय में एक भी स्वतन्त्र श्लोक बनाने की योग्यता का अनुमान नहीं होता। यदि उनमें इतनी योग्यता होती, तो क्या वे पाँच पर्वों में से एक भी पर्व के अन्त में अपने नाम का कोई पद्य न देते और मंगलाचरण भी दूसरे ही ग्रन्थ से उठाकर रखते? कदापि नहीं। उन्हें सिर्फ़ दूसरों के पद्यों में कुछ नामादि का परिवर्तन करना ही आता था और वह भी यद्वा तद्वा। यही कारण है कि वे १३ पर्वों के अन्तिम काव्यों में 'सोमसेन' के स्थान में 'जैनसेन' ही बदलकर रख सके हैं। 'जिनसेन' का बदल उनसे कहीं भी न हो सका। यहाँ पर जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता की योग्यता का कुछ और भी दिग्दर्शन कराया जाता है, जिससे पाठकों पर उनकी सारी कलई खुल जायेगी—

(क) जिनसेन त्रिवर्णाचार के प्रथम पर्व में ४५१ पद्य हैं। जिनमें से आदि के पाँच पद्यों को छोड़कर शेष कुल पद्य (४४६ श्लोक) भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराण से लेकर रखे गये हैं। ये ४४६ श्लोक किसी एक पर्व से सिलसिलेवार नहीं लिये गये हैं, किन्तु अनेक पर्वों से कुछ-कुछ श्लोक लिये गये हैं। यदि जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता में कुछ योग्यता होती, तो वे इन श्लोकों को अपने ग्रन्थ में इस ढंग से रखते कि जिससे मजमून का सिलसिला (क्रम) और सम्बन्ध ठीक-ठीक बैठ जाता। परन्तु उनसे ऐसा नहीं हो सका। इससे साफ़ जाहिर है कि वे उठाकर रखे हुए इन श्लोकों के अर्थ को भी अच्छी तरह न समझते थे। उदाहरण के तौर पर कुछ श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

ततो युगान्ते भगवान्वीरः सिद्धार्थनन्दनः ।
 विपुलाद्रिमलंकुर्वन्नेकदास्ताखिलार्थदृक् ॥६॥
 अथोपसृत्य तत्रैनं पश्चिमं तीर्थनायकम् ।
 पप्रच्छामुं पुराणार्थं श्रेणिको विनयानतः ॥७॥
 तं प्रत्यनुग्रहं भर्तुरवबुध्य गणाधिपः ।
 पुराणसंग्रहं कृत्स्नमन्ववोचत्स गौतमः ॥८॥

अत्रान्तरे पुराणार्थकोविदं वदतां वरम्।
 पप्रच्छुर्मुनयो नम्रा गौतमं गणनायकम्॥९॥
 भगवन्भारते वर्षे भोगभूमिस्थितिच्युतौ।
 कर्मभूमिव्यवस्थायां प्रसृतायां यथायथम्॥१०॥
 तदा कुलधारोत्पत्तिस्त्वया प्रागेव वर्णिता।
 नाभिराजश्च तत्रान्त्यो विश्वक्षत्रगणाग्रणीः॥११॥

इन श्लोकों में से श्लोक नं० ६ मंगलाचरण के बाद का सबसे पहला श्लोक है। इसी से ग्रन्थ के कथन का प्रारम्भ किया गया है। इस श्लोक में 'ततो' शब्द आया है, जिसका अर्थ है 'उसके अनन्तर', परन्तु उसके किसके? ऐसा इस ग्रन्थ से कुछ भी मालूम नहीं होता। इसलिए यह श्लोक यहाँ पर असम्बद्ध है। इसका 'ततो' शब्द बहुत ही खटकता है। आदिपुराण के प्रथम पर्व में इस श्लोक का नम्बर १९६ है। वहाँ पर इससे पहले कई श्लोकों में महापुराण के अवतार का (कथासम्बन्ध का) सिलसिलेवार कथन किया गया है। उसी के सम्बन्ध में यह श्लोक तथा इसके बाद के दो श्लोक नं० ७ और ८ थे।

अन्त के तीनों श्लोक (नं० ९-१०-११) आदिपुराण के १२वें पर्व के हैं। उनका पहले तीनों श्लोकों से कुछ सम्बन्ध नहीं मिलता। श्लोक नं० ९ में अत्रान्तरे ऐसा पद इस बात को बतला रहा है कि गौतमस्वामी कुछ कथन कर रहे थे, जिसके दरम्यान में मुनियों ने उनसे कुछ सवाल किया है। वास्तव में आदिपुराण में ऐसा ही प्रसंग था। वहाँ ११वें पर्व में वज्रनाभि का सर्वार्थसिद्धिगमन वर्णन करके १२वें पर्व के प्रथम श्लोक में यह प्रस्तावना की गई थी कि अब वज्रनाभि के स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतार लेने आदि का वृत्तान्त सुनाया जाता है। उसके बाद दूसरे नम्बर पर फिर यह श्लोक नं० ९ दिया था। परन्तु यहाँ पर वज्रनाभि के सर्वार्थसिद्धिगमन आदि का वह कथन कुछ भी न लिखकर एकदम १०-११ पर्व छोड़कर १२वें पर्व के इस श्लोक नं० २ से प्रारम्भ करके ऐसे कई श्लोक बिना सोचे समझे नकल कर डाले हैं, जिनका मेल पहले श्लोकों के साथ नहीं मिलता। अन्त के ११वें श्लोक में त्वया प्रागेव वर्णिता इस पद के द्वारा यह प्रकट किया गया है कि कुलकरों की उत्पत्ति का वर्णन इससे पहले दिया जा चुका है। आदिपुराण में ऐसा है भी, परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसा नहीं किया गया। इसलिए यहाँ रखा हुआ यह श्लोक त्रिवर्णाचार के कर्ता की साफ़ मूढ़ता जाहिर कर रहा है—

देवाद्य यामिनीभावे पश्चिमे सुखनिद्रिता।
 अद्राक्षं षोडशस्वप्नानिमानत्यद्भुतोदयान्॥७३॥
 वदेतेषां फलं देव शुश्रूषा मे विवर्द्धते।
 अपूर्वदर्शनात्कस्य न स्यान्कौतुकवन्मनः॥७४॥

इन दोनों श्लोकों में से पहले श्लोक में इमान् शब्द द्वारा आगे स्वप्नों के नामकथन की सूचना पाई जाती है। और दूसरे पद्य में एतेषां शब्द से यह जाहिर होता है कि उन स्वप्नों का नामादिक कथन

कर दिया गया, अब फल पूछा जाता है। परन्तु इन दोनों श्लोकों के मध्य में १६ स्वप्नों का नामोल्लेख करने वाले कोई भी पद्य नहीं हैं। इससे ये दोनों पद्य परस्पर असम्बद्ध मालूम होते हैं। आदिपुराण के १२वें पर्व में इन दोनों श्लोकों का नम्बर क्रमशः १४७ और १५३ है। इनके मध्य में वहाँ पाँच पद्य और दिये हैं, जिनमें १६ स्वप्नों का विवरण है। ग्रन्थकर्ता ने उन्हें छोड़ तो दिया, परन्तु यह नहीं समझा कि उनके छोड़ने से ये दोनों श्लोक भी परस्पर असम्बद्ध हो गये हैं।

महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयीजनः।

निर्मापितास्ततो घंटा जिनबिम्बैरलंकृताः॥३३१॥

चक्रवर्ती तमभ्येत्य त्रिःपरीत्य कृतस्तुतिः।

महामहमहापूजां भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयम्॥३३२॥

चतुर्दशदिनान्येवं भगवन्तमसेवत॥३३३॥ (पूर्वाद्ध)^{१६}

इन पद्यों में से पहले पद्य का दूसरे पद्य से कुछ सम्बन्ध नहीं मिलता। दूसरे पद्य में चक्रवर्ती तमभ्येत्य ऐसा पद आया है, जिसका अर्थ है 'चक्रवर्ती उसके पास जाकर'। परन्तु यहाँ इस उस (तम्) शब्द से किसका ग्रहण किया जाये, इस सम्बन्ध को बतलाने वाला कोई भी पद्य इससे पहले नहीं आया है। इसलिए यह पद्य यहाँ पर बहुत भद्दा मालूम होता है। वास्तव में पहला पद्य आदिपुराण के ४१वें पर्व का है, जिसमें भरत चक्रवर्ती ने दुःस्वप्नों का फल सुनकर उनका शान्तिविधान किया है। दूसरा पद्य आदिपुराण के ४७वें पर्व का है और उस वक्त से सम्बन्ध रखता है, जब भरत महाराज आदीश्वर भगवान् की स्थिति का और उनकी ध्वनि के बन्द होने आदि का हाल सुनकर उनके पास गये थे और वहाँ उन्होंने १४ दिन तक भगवान् की सेवा की थी। ग्रन्थकर्ता ने आदीश्वर भगवान् और भरत चक्रवर्ती का इस अवसर सम्बन्धी हाल कुछ भी न रखकर एकदम जो ४१वें पर्व से ४७वें पर्व में छलाँग मारी है और एक ऐसा पद्य उठाकर रखा है जिसका पूर्व पद्यों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं मिलता, उससे साफ़ जाहिर है कि ग्रन्थकर्ता को आदिपुराण के इन श्लोकों को ठीक-ठीक समझने की बुद्धि न थी।

(ख) इस त्रिवर्णाचार का दूसरा पर्व प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि—

प्रणम्याथ महावीरं गौतमं गणनायकम्।

प्रोवाच श्रेणिको राजा श्रुत्वा पूर्वकथानकम्॥१॥

त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं देव त्रिवर्णानां समुद्भवम्।

अथेदानीं च वक्तव्यमाह्निकं कर्म प्रस्फुटम्॥२॥

अर्थात् राजा श्रेणिक ने पूर्वकथानक को सुनकर और महावीरस्वामी तथा गौतम गणधर को

१६. पद्य नं० ३३१ आदिपुराण के ४१वें पर्व के श्लोक नं० ८६ के उत्तराद्ध और नं० ८७ के पूर्वाद्ध को मिलकर बना है। श्लोक नं० ३३२ पर्व नं० ४७ के श्लोक नं० ३३७ और ३३८ के उत्तराद्ध और पूर्वाद्धों को मिलाने से बना है। और श्लोक नं० ३३३ का पूर्वाद्ध उक्त ४७वें पर्व के श्लोक नं० ३३८ का उत्तराद्ध है।

नमस्कार करके कहा कि- “हे देव! आपके प्रसाद से मैंने त्रिवर्णों की उत्पत्ति का हाल तो सुना, अब स्पष्ट रूप से आह्निक कर्म (दिनचर्या) कथन करने योग्य है।” राजा श्रेणिक के इस निवेदन का गौतम स्वामी ने क्या उत्तर दिया, यह कुछ भी न बतलाकर ग्रन्थकर्ता ने इन दोनों श्लोकों के अनन्तर ही अथ क्रमेण सामायिकादिकथनम् यह एक वाक्य दिया है और इस वाक्य के आगे यह पद्य लिखा है-

ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मत-
मार्तं रौद्रसधर्म्यशुक्लचरमं दुःखादिसौख्यप्रदम्।
पिण्डस्थं च पदस्थरूपरहितं रूपस्थनामापरम्।
तेषां भिन्नचतुश्चतुर्विषयजा भेदाः परे सन्ति वै॥३॥

ऊपर के दोनों श्लोकों के सम्बन्ध से ऐसा मालूम होता है कि गौतम स्वामी ने इस पद्य से आह्निक कर्म का कथन करना प्रारम्भ किया है और इस पद्य में आया हुआ ‘अहं’ (मैं) शब्द उन्हीं का वाचक है। परन्तु इस पद्य में ऐसी प्रतिज्ञा पाई जाती है कि मैं ज्ञानार्णव ग्रन्थ के अनुसार ध्यान का कथन करता हूँ। क्या गौतम स्वामी के समय में भी ज्ञानार्णव ग्रन्थ मौजूद था और आह्निक कर्म के पूछने पर गौतम स्वामी का ऐसा ही प्रतिज्ञावाक्य होना चाहिये था? कदापि नहीं। इसलिए आदि के दोनों श्लोकों का इस तीसरे पद्य से कुछ भी सम्बन्ध नहीं मिलता, उपर्युक्त दोनों श्लोक बिल्कुल व्यर्थ मालूम होते हैं और इन श्लोकों को रखने से ग्रन्थकर्ता की निरी मूर्खता टपकती है। यह तीसरा पद्य और इससे आगे के बहुत से पद्य वास्तव में सोमसेनत्रिवर्णाचार के पहले अध्याय से उठाकर यहाँ रखे गये हैं।

(ग) इस त्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में संस्कारों का वर्णन करते हुए एक स्थान पर अथ जातिवर्णनमाह ऐसा लिखकर नम्बर २३ से ५९ तक ३७ श्लोक दिये हैं। इन श्लोकों में से पहला और अन्त के दो श्लोक इस प्रकार हैं-

शूद्राश्चावरवर्णाश्च वृषलाश्च जघन्यजाः।
आचण्डालात्तु संकीर्णा अम्बष्ठकरणादयः॥२३॥
प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया।
प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्॥५८॥
वाच्यलिंगः समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक्।
साधारणः समानश्च स्युरुत्तरपदे त्वमी॥५९॥

इन सब श्लोकों को देकर अन्त में लिखा है कि इति जातिकथनम्। इससे विदित होता है कि ये सब ३७ श्लोक ग्रन्थकर्ता ने जातिप्रकरण के समझकर ही लिखे हैं। परन्तु वस्तुतः ये श्लोक ऐसे नहीं हैं। यदि आदि के कुछ श्लोकों को जातिप्रकरणसम्बन्धी मान भी लिया जाये, तो भी शेष श्लोकों का तो जातिप्रकरण के साथ कुछ भी सम्बन्ध मालूम नहीं होता, जैसा कि अन्त के दोनों श्लोकों से प्रकट है कि एक में ‘प्रतिमा’ शब्द के नाम (पर्यायशब्द) दिये हैं और दूसरे में ‘समान’ शब्द के।

वास्तव में ये सम्पूर्ण श्लोक अमरकोश द्वितीय काण्ड के 'शूद्र' वर्ग से उठाकर यहाँ रखे गये हैं। इनका विषय शब्दों का अर्थ है, न कि किसी खास प्रकरण का वर्णन करना। मालूम नहीं, ग्रन्थकर्ता ने इन अप्रासंगिक श्लोकों को नकल करने का कष्ट क्यों उठाया।

(घ) इस त्रिवर्णाचार के १२वें पर्व में एक स्थान पर अथ प्रसूतिस्नानं ऐसा लिखकर नीचे लिखे दो श्लोक दिये हैं—

लोकनाथेन सम्पूज्यं जिनेन्द्रपदपङ्कजम्।
वक्ष्ये कृतोऽयं सूत्रेषु ग्रन्थं स्वर्मुक्तिदायकम्॥१॥
प्रसूतिस्नानं यत्कर्म कथितं यजिनागमे।
प्रोच्यते जिनसेनोऽहं शृणु त्वं मगधेश्वर॥२॥

ये दोनों श्लोक बड़े ही विचित्र मालूम होते हैं। ग्रन्थकर्ता ने इधर-उधर से कुछ पदों को जोड़कर एक बड़ा ही असमंजस दृश्य उपस्थित कर दिया है। पहले श्लोक का तो कुछ अर्थ ही ठीक नहीं बैठता, उसके पूर्वार्द्ध का उत्तरार्द्ध से कुछ भी सम्बन्ध नहीं मिलता। रहा दूसरा श्लोक, उसका अर्थ यह होता है कि 'प्रसूतिस्नान नाम का जो कर्म जिनागम में कहा गया है, मैं जिनसेन कहा जाता है, हे श्रेणिक राजा तू सुन।' इस श्लोक में प्रोच्यते जिनसेनोऽहं यह पद बड़ा विलक्षण है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार 'प्रोच्यते' क्रिया के साथ 'जिनसेनोऽहं' यह प्रथमा विभक्ति का रूप नहीं आ सकता और 'जिनसेनोऽहं' के साथ 'प्रोच्यते' ऐसी क्रिया नहीं बन सकती। इसके सिवाय जिनसेन का राजा श्रेणिक को सम्बोधन करके कुछ कहना भी नितान्त असंगत है। राजा श्रेणिक के समय में जिनसेन का कोई अस्तित्व ही न था। ग्रन्थकर्ता को शब्दशास्त्र और अर्थशास्त्र का कितना ज्ञान था और किस रीति से उन्हें शब्दों का प्रयोग करना आता था, इसकी सारी कलई ऊपर के दोनों श्लोकों से खुल जाती है। इसी प्रकार के और भी बहुत से अशुद्ध प्रयोग अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं। चौथे पर्व में, जहाँ नदियों को अर्घ चढ़ाये गये हैं, वहाँ बीसियों जगह नद्यैकोऽर्घः, सुवर्णकूलायैकोऽर्घः, तीर्थदेवतायैकोऽर्घः इत्यादि अशुद्ध पद दिये गये हैं, जिनसे ग्रन्थकर्ता की संस्कृत-योग्यता का अच्छा परिचय मिलता है।

(ङ) इसी १२वें पर्व में 'प्रसूतिस्नान' प्रकरण से पहले मूल और अश्लेषा नक्षत्रों की पूजा का विधान वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है—

'ॐ ठः ठः स्वाहा' ए मंत्र भणी सर्षप तथा सुवर्णसूं अभिषेक कीजे। पाछै दिसि बांधि तत्र भणनं 'ॐ नमो दिसि विदिसि आदिसो। ठऊ दिशउभ्यः स्वाहा। ए मंत्र त्रण बार भणीयं ताली ३ दीजइ। आषांड छाली भणीइ पहिलो कह्यो ते एविधि करीनें माता पिता बालकनुं हाथ दिवारी सघली वस्तनइ दान दीजे। पाछै अठावीस नक्षत्र अने नव ग्रहना मंत्र भणीइ माने खोलै बालक बैसारिये। पिता जिमणे हाथ वैसारीइ। पितानै माताना हाथमांहि ज्वारना दाणा देईन मंत्र भणीइ। पहिलो कह्यो ते मंत्र भणीइ। ए विधि करीने माता बालकनुं हाथ दिवारी सघली वस्तुनइ दान दीजे। पूजाना करणहारनै सर्व वस्तु दीजे। पाछै 'ॐ तदुस्नः' ए मंत्र भणी शांति भणीइ। पाछै जिमण देईनै वालीइ। इति मूल अश्लेषा

पूजाविधि समाप्तः।”

संस्कृत ग्रन्थ में इस प्रकार की गुजराती भाषा के आने से साफ़ यह मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता महाशय को स्वयं संस्कृत बनाना न आता था और जब आपको उपर्युक्त पूजाविधि किसी संस्कृत ग्रन्थ में न मिल सकी, तब आपने उसे अपनी भाषा में ही लिख डाला है। और भी दो एक स्थानों पर ऐसी भाषा पाई जाती है, जिससे ग्रन्थकर्ता की निवासभूमि का अनुमान होना भी सम्भव नहीं है।

योग्यता के इस दिग्दर्शन से, पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता को एक भी स्वतन्त्र श्लोक बनाना आता था कि नहीं।

यहाँ तक के इस समस्त कथन से यह तो सिद्ध हो गया कि यह ग्रन्थ (जिनसेनत्रिवर्णाचार) आदिपुराण के कर्ता भगवज्जिनसेन का बनाया हुआ नहीं है और न हरिवंशपुराण के कर्ता दूसरे जिनसेन या तीसरे और चौथे जिनसेन का ही बनाया हुआ है। बल्कि सोमसेनत्रिवर्णाचार से बाद का अर्थात् वि० सं० १६६५ से भी पीछे का बना हुआ है। साथ ही ग्रन्थकर्ता की योग्यता का भी कुछ परिचय मिल गया। परन्तु यह ग्रन्थ वि० सं० १६६५ से कितने पीछे का बना हुआ है और किसने बनाया है, इतना सवाल अभी और बाक़ी रह गया है।

जैनसिद्धान्तभास्कर द्वारा प्रकाशित हुई और पुष्करगच्छ से सम्बन्ध रखनेवाली सेनगण की पट्टावली को देखने से मालूम होता है कि, भट्टारक श्रीगुणभद्रसूरि के पट्ट पर एक ‘सोमसेन’ नामक भट्टारक हुए हैं। सोमसेनत्रिवर्णाचार में भट्टारक सोमसेन भी अपने को पुष्करगच्छ में गुणभद्रसूरि के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए बतलाते हैं। इससे पट्टावली और त्रिवर्णाचार के कथन की समानता पाई जाती है। अर्थात् यह मालूम होता है कि पट्टावली में गुणभद्र के पट्ट पर जिन सोमसेन भट्टारक के प्रतिष्ठित होने का कथन है, उन्हीं का ‘सोमसेन त्रिवर्णाचार’ बनाया हुआ है। इन सोमसेन के पट्ट पर उक्त पट्टावली में जिनसेन भट्टारक के प्रतिष्ठित होने का कथन किया गया है। हो सकता है कि जिनसेनत्रिवर्णाचार उन्हीं सोमसेन भट्टारक के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने वाले जिनसेन भट्टारक का निर्माण किया हुआ हो और इसलिए विक्रम की १७वीं शताब्दी के अन्त में या १८वीं शताब्दी के आरम्भ में इस ग्रन्थ का अवतार हुआ हो। परन्तु पट्टावली में उक्त जिनसेन भट्टारक की योग्यता का परिचय देते हुए लिखा है कि वे महामोहान्धकार से ढके हुए संसार के जनसमूहों से दुस्तर कैवल्य मार्ग को प्रकाश करने में दीपक के समान थे और बड़े दुर्धर्ष नैय्यायिक, कणाद, वैय्याकरणरूपी हाथियों के कुम्भोत्पाटन करने में लम्पट बुद्धिवाले थे, इत्यादि। यथा—

“तत्पट्टे महामोहान्धकारतमसोपगूढभुवनभवलग्रजनताभिदुस्तरकैवल्यमार्गप्रकाशकदीपकानां, कर्कशतार्किककणादवैय्याकरणबृहत्कुंभिकुंभपाटनलम्पधियां निजस्वस्याचरणकणखंजायिनचरण-युगादेकाणां श्रीमद्भट्टारकवर्यसूर्यश्रीजिनसेनभट्टारकाणाम्॥४८॥”

यदि जिनसेन भट्टारक की इस योग्यता में कुछ भी सत्यता है तो कहना होगा कि यह ‘जिनसेन त्रिवर्णाचार’ उनका बनाया हुआ नहीं है। क्योंकि जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता की योग्यता का जो

दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है, उससे मालूम होता है कि वे एक बहुत मामूली, अदूरदर्शी और साधारण बुद्धि के आदमी थे। और यदि सोमसेन भट्टारक के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने वाले जिनसेन भट्टारक की, वास्तव में, ऐसी ही योग्यता थी, जैसी कि जिनसेनत्रिवर्णाचार से जाहिर है, पट्टावली में दी हुई योग्यता नितान्त असत्य है, तो कह सकते हैं कि उन्होंने भट्टारकजी ने यह जिनसेनत्रिवर्णाचार बनाया है। परन्तु फिर भी इतना जरूर कहना होगा कि उन्होंने सोमसेन भट्टारक के पट्ट पर होने वाले जिनसेन भट्टारक की हैसियत से इस ग्रन्थ को नहीं बनाया है। यदि ऐसा होता तो वे इस ग्रन्थ में कम से कम अपने गुरु या पूर्वज सोमसेन भट्टारक का जरूर उल्लेख करते, जैसा कि आम तौर पर सब भट्टारकों ने किया है। और साथ ही उन पद्यों में से ब्रह्मसूरि का नाम उड़ाकर उनके स्थान में 'गौतमर्षि' न रखते जिनको उनके पूर्वज सोमसेन ने बड़े गौरव के साथ रखा था, बल्कि अपना कर्तव्य समझकर ब्रह्मसूरि के नाम के साथ सोमसेन का नाम भी और अधिक देते। परन्तु ऐसा नहीं किया गया, इससे जाहिर है कि यह ग्रन्थ उक्त भट्टारक की हैसियत से नहीं बना है। बहुत सम्भव है कि जिनसेन के नाम से किसी दूसरे ही व्यक्ति ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया हो, परन्तु कुछ भी हो, भट्टारक जिनसेन इसके विधाता हों या कोई दूसरा व्यक्ति, इसमें सन्देह नहीं कि जिसने भी इस त्रिवर्णाचार का सम्पादन किया है उसका ऐसा अभिप्राय जरूर रहा है कि यह ग्रन्थ सोमसेन और ब्रह्मसूरि के त्रिवर्णाचारों से पहला, प्राचीन और अधिक प्रामाणिक समझा जाये। यही कारण है जो उसने सोमसेन त्रिवर्णाचार के अनेक पद्यों में से 'ब्रह्मसूरि' का नाम उड़ाकर उसके स्थान में गौतम स्वामी का गीत गाया है और सोमसेन त्रिवर्णाचार का जिसकी अपने इस ग्रन्थ में नक़ल की नक़ल कर डाली है, नाम तक भी नहीं लिया है। इसी प्रकार एक स्थान पर पण्डित आशाधर जी का नाम भी उड़ाया गया है, जिसका विवरण इस प्रकार है—

सोमसेन त्रिवर्णाचार के १०वें अध्याय में निम्नलिखित चार पद्य पंडित आशाधर के हवाले से 'अथाशाधरः' लिखकर उद्धृत किये गये हैं। यथा—

अथाशाधरः—

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने ।
 स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥१४६॥
 स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत् वा ।
 मौनेन दर्शयित्वांगं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥१४७॥
 निर्गत्यान्यद्गृहं गच्छेद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ।
 भोजनायार्थितोऽद्यात्तद्भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥१४८॥
 प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत्स्वोदरपूरणीम् ।
 लभेत प्रासुयत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥१४९॥

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १४ वें पर्व में सोमसेनत्रिवर्णाचार के दसवें अध्याय की मंगलाचरणसहित नक़ल होने से ये चारों पद्य भी उसमें इसी क्रम से दर्ज हैं। परन्तु इनके आरम्भ में 'अथाशाधरः' के

स्थान में 'अथ समन्तभद्र' लिखा हुआ है। वास्तव में ये चारों पद्य पं० आशाधर-विरचित 'सागारधर्माभूत' के ७वें अध्याय के हैं, जिसमें इनके नम्बर क्रमशः ४०, ४१, ४२, ४३ हैं। श्री समन्तभद्रस्वामी जी के ये वचन नहीं हैं। स्वामी समन्तभद्र का अस्तित्व विक्रम की दूसरी शताब्दी के लगभग माना जाता है। और पं० आशाधर जी विक्रम की १३वीं शताब्दी में हुए हैं। मालूम होता है कि जिनसेन त्रिवर्णाचार के बनानेवाले ने इसी भय से 'आशाधर' की जगह 'समन्तभद्र' का नाम बदला है कि, कहीं आशाधर का नाम आ जाने से उसका यह ग्रन्थ आशाधर से पीछे का बना हुआ अर्वाचीन और आधुनिक सिद्ध न हो जाये। यहाँ पर पाठकों के हृदय में स्वभावतः यह सवाल उत्पन्न हो सकता है कि ग्रन्थकर्ता को समन्तभद्रस्वामी का झूठा नाम लिखने की क्या जरूरत थी, वह वैसे ही आशाधर का नाम छोड़ सकता था। परन्तु ऐसा सवाल करने की जरूरत नहीं है। वास्तव में ग्रन्थकर्ता को अपने घर की इतनी अकल ही नहीं थी। उसने जहाँ से जो वाक्य उठाकर रखे हैं, उनको उसी तरह से नक़ल कर दिया है। सिर्फ़ जो नाम उसे अनिष्ट मालूम हुआ, उसको बदल दिया है और जहाँ कहीं उसकी समझ में ही नहीं आया कि यह 'नाम' है, वह ज्यों का त्यों रह गया है। इसके सिवाय ग्रन्थकर्ता के हृदय में इस बात का जरा भी भय न था कि कोई उसके ग्रन्थ की जाँच करने वाला भी होगा या कि नहीं। वह अज्ञानान्धकार से व्याप्त जैनसमाज पर अपना स्वच्छंद शासन करना चाहता था। इसीलिए उसने आँख बन्द करके अंधाधुंध, जहाँ जैसा जी में आया, लिख दिया है। पाठकों पर, आगे चलकर, इसका सब हाल खुल जायेगा और यह भी मालूम हो जायेगा कि इस त्रिवर्णाचार का कर्ता जैन समाज का कितना शत्रु था। यहाँ पर इस समय सिर्फ़ इतना और प्रकट किया जाता है कि इस त्रिवर्णाचार के चौथे पर्व में एक संकल्प मंत्र दिया है, जिसमें संवत् १९३१ लिखा है। वह संकल्प मंत्र इस प्रकार है—

“ॐ अथ त्रैकाल्यतीर्थपुण्यप्रवर्तमाने भूलोके भुवनकोशे मध्यमलोके अद्य भगवतो महापुरुषस्य श्रीमदादिब्रह्मणो मते जम्बूद्वीपे तत्पुरो मेरोर्दक्षिणे भारतवर्षे आर्यखण्डे एतदवसर्पिणीकालावसानप्रवर्तमाने कलियुगाभिधानपंचमकाले प्रथमपादे श्रीमहति महावीरवर्द्धमान-तीर्थङ्करोपदिष्टसर्द्धमव्यतिकरे श्रीगौतम-स्वामिप्रतिपादितसन्मार्गप्रवर्तमाने श्रीश्रेणिकमहामण्डलेश्वरसमाचरितसन्मार्गविशेषे सम्बत् १७३१ प्रवर्तमाने अ. संवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे...”

मालूम होता है कि यह संकल्पमंत्र किसी ऐसी याददाश्त (स्मरणपत्र) पर से उतारा गया है, जिसमें तत्कालीन व्यवहार के लिए किसी ने संवत् १७३१ लिख रखा था। नक़ल करते या कराते समय ग्रन्थकर्ता को इस संवत् के बदलने का कुछ खयाल नहीं रहा और इसलिए वह बराबर ग्रन्थ में लिखा चला आता है। कुछ भी हो, इस सम्बत् से इतना पता जरूर चलता है कि यह ग्रन्थ वि० संवत् १६६५ ही नहीं, बल्कि संवत् १७३१ से भी पीछे का बना हुआ है। जहाँ तक मैंने इस विषय पर विचार किया है, मेरी राय में यह ग्रन्थ विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के अन्त का या उससे भी कुछ बाद का बना हुआ मालूम होता है।

[२]

इस त्रिवर्णाचार का विधाता चाहे कोई हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिसने इस ग्रन्थ का निर्माण किया है वह अवश्य ही कोई धूर्त व्यक्ति था। ग्रन्थ में स्थान स्थान पर उसकी धूर्तता का खासा परिचय मिलता है। यहाँ पाठकों के सन्तोषार्थ ग्रन्थकर्ता की इसी धूर्तता का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। इससे पाठकों पर ग्रन्थकर्ता की सारी असलियत खुल जायेगी और साथ ही यह भी मालूम हो जायेगा कि यह त्रिवर्णाचार कोई जैनग्रन्थ हो सकता है या कि नहीं—

(१) हिन्दूधर्मशास्त्रों में ‘याज्ञवल्क्यस्मृति’ नाम का एक ग्रन्थ है और इस ग्रन्थ पर विज्ञानेश्वर की बनाई हुई ‘मिताक्षरा’ नाम की एक प्राचीन टीका सर्वत्र प्रसिद्ध है। ‘मिताक्षरा’ हिन्दू धर्मशास्त्र का प्रधान अंग है और अदालतों में इसका प्रमाण भी माना जाता है। जिनसेन त्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में इस याज्ञवल्क्यस्मृति के पहले अध्याय का चौथा प्रकरण, जिसका नाम ‘वर्ण-जाति-विवेक-प्रकरण’ है, मिताक्षरा टीकासहित ज्यों का त्यों उठाकर नहीं किन्तु चुराकर रखा गया है।^{१७} इस प्रकरण में मूल श्लोक सात हैं, शेष बहुत-सा गद्यभाग उनकी पृथक्-पृथक् टीकाओं का है। नमूने के तौर पर इस प्रकरण का पहला और अन्तिम श्लोक तथा पहले श्लोक की टीका का कुछ अंश नीचे प्रकट किया जाता है—

“सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायेते हि सजातयः ।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः संतानवर्धनाः॥
जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पंचमे सप्तमेऽपि वा ।
व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम्॥”

“सवर्णेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः सवर्णासु ब्राह्मण्यादिषु सजातयः मातृ-पितृ-समान-जातीयाः पुत्रा भवन्ति, ‘वित्रास्वेष विधिः स्मृतः’ इति सर्वशेषत्वेनोपसंहारात्। वित्रासु सवर्णास्विति संबध्यते वित्राशब्दस्य...।”

जिनसेन त्रिवर्णाचार में इन श्लोकों का कोई नम्बर नहीं दिया है और न टीका को ‘टीका’ या ‘अर्थ’ इत्यादि ही लिखा है। बल्कि एक सरड़ा नकल कर डाली है। याज्ञवल्क्यस्मृति में इन दोनों श्लोकों के नम्बर क्रमशः ९० और ९६ हैं। त्रिवर्णाचार के कर्ता ने इस प्रकरण को उठाकर रखने में बड़ी ही चालाकी से काम लिया है। याज्ञवल्क्यस्मृति और उसकी ‘मिताक्षरा’ टीका का उसने कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया, प्रत्युत इस बात की बराबर चेष्टा की है कि ये सब वचन उसके और प्राचीन जैनाचार्यों के ही समझे जायें। यही कारण है कि दूसरे श्लोक के बाद उसने ‘भद्रबाहु’ का नाम लिखा है, जिससे आगे के वचन भद्रबाहु स्वामी के समझ लिए जायें। परन्तु वास्तव में वे सब वचन दूसरे श्लोक की मिताक्षरा टीका के सिवाय और कुछ नहीं हैं। इस दूसरे श्लोक की मिताक्षरा टीका में एक

१७. सिर्फ पहले श्लोक की लम्बी चौड़ी टीका में चार पाँच पंक्तियाँ ऐसी हैं जो किसी दूसरे ग्रन्थ से उठाकर जोड़ी गई हैं और जिनमें धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर के क्षेत्रज (दृष्टिज) पुत्र होने का निषेध किया गया है।

स्थान पर 'शंख' ऋषि के हवाले से वाक्य दिये हुए हैं—

“यत्तु ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः क्षत्रिय एव भवति। क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति। वैश्येन शूद्रायामुत्पादितः शूद्र एव भवति। इति शंखस्मरणम्।”

त्रिवर्णाचार के बनाने वाले ने इन वाक्यों के अन्त में से 'इति शंखस्मरणम्' को निकालकर उसके स्थान में 'इति समन्तभद्र' बना दिया है, जिससे ये वचन समन्तभद्रस्वामी के समझे जायें। इसी प्रकार छठे श्लोक की टीका में जो 'यथाह शंखः' लिखा हुआ था, उसको बदलकर 'यथाह गौतमः' बना दिया है। यद्यपि इस प्रकार की बहुत कुछ चालाकी और बनावट की गई है, परन्तु फिर भी ग्रन्थकर्ता द्वारा इस प्रकरण की असलियत छिपाई हुई छिप नहीं सकी। स्वयं गद्यरूप टीका इस बात को प्रकट कर रही है कि वह वैदिक धर्म से सम्बन्ध रखती है। उसमें अनेक स्थानों पर स्मृतियों के वचनों का उल्लेख है और पाँचवें श्लोक की टीका में ६ प्रकार के प्रतिलोमजों की वृत्तियों के सम्बन्ध में साफ़ तौर से 'औशनस-धर्मशास्त्र' को देखने की प्रेरणा दी गई है, जो हिन्दूधर्म का एक प्रसिद्ध स्मृतिग्रन्थ है। यथा—

“एते च सूतवैदेहिकचाण्डालमागधक्षत्रायोगवाः षट्प्रतिलोमजाः एतेषां च वृत्तयः औशनसे मानवे द्रष्टव्याः।”

मालूम होता है कि 'औशनसे मानवे' इन शब्दों से त्रिवर्णाचार के कर्ता की समझ में यह नहीं आ सकी है कि, इनमें किसी हिन्दू धर्म के ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है। इसीलिए वह इन शब्दों को बदल नहीं सका। इसके सिवाय त्रिवर्णाचार में इस प्रकरण का प्रारम्भ इन शब्दों के साथ किया गया है—

“अथ परिणयनविधिमाह। तथा च क्षीरकदम्बाचार्येणोक्तम्। ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्याः क्षत्रियस्य तिस्रो वैश्यस्य द्वे शूद्रस्यैक इत्युक्त्वा तासु च पुत्रा उत्पादयितव्या इत्युक्तम्। इदानीं कस्यां कस्मात् कः पुत्रो भवति इति विवेकमाह।”

अर्थात् “अब परिणयन विधि को कहते हैं। तैसा (तथा) क्षीर कदम्बाचार्य ने कहा है। ब्राह्मण के चार वर्ण की, क्षत्रिय के तीन वर्ण की, वैश्य के दो वर्ण की और शूद्र के एक अपने ही वर्ण की स्त्रियाँ होती हैं। यह कहकर (इत्युक्त्वा) उन स्त्रियों में पुत्र उत्पन्न करने चाहिएँ, यह कहा चुका (इत्युक्तम्)। अब किसी स्त्री में, किसके संयोग से, कौन पुत्र उत्पन्न होता है, इसका विचार करते हैं।”

इन वाक्यों से पहले, इस त्रिवर्णाचार में 'परिणयनविधि' का कोई ऐसा कथन नहीं आया जिसका सम्बन्ध 'तथा' शब्द से मिलाया जाये। इसी प्रकार ऐसा भी कोई कथन नहीं आया जिसका सम्बन्ध 'इत्युक्त्वा' और 'इत्युक्तम्' इन शब्दों से मिलाया जाये। ऐसी हालत में ये सब वाक्य बिल्कुल असम्बद्ध मालूम होते हैं और इस बात को प्रकट करते हैं कि, इनमें से कुछ वाक्य कहीं से उठाकर रखे गये हैं और कुछ वैसे ही जोड़ दिये गये हैं। मिताक्षरा टीका को देखने से इसका सारा भेद खुल जाता है। असल में मिताक्षरा टीकाकार ने चौथे प्रकरण का प्रारम्भ करते हुए पूर्वकथन का सम्बन्ध

और उत्तरकथन की सूचनिका रूप से प्रथम श्लोक (नं० ९०) के आदि में 'ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्याः...' इत्यादि उपर्युक्त वाक्य दिये थे। त्रिवर्णाचार के कर्ता ने उन्हें ज्यों का त्यों बिना सोचे समझे नक़ल कर दिया है और दो वाक्य वैसे ही अपनी तरफ से और उनके पहले जोड़ दिये हैं। पहले वाक्य में जिस परिणयनविधि के कथन की प्रतिज्ञा की गई है उसका पालन भी सारे प्रकरण में कहीं नहीं किया गया। प्रकरण के अन्त में लिखा है कि 'इति वर्णजातिविवेकप्रकरणं समाप्तम्'।

इन सब बातों से साफ़ जाहिर है कि, यह पूरा प्रकरण याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका से चुराया गया है और इसमें शंखादिक के स्थान में समन्तभद्रादि जैनाचार्यों का नाम डालकर लोगों को धोखा दिया गया है।

(२) हिन्दूधर्म के ग्रन्थों में श्रीदत्त उपाध्याय का बनाया हुआ आचारादर्श नाम का एक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ गद्यपद्यमय है और इसमें प्रायः जो कुछ भी वर्णन किया गया है, वह सब हिन्दू धर्म के अनेक प्रसिद्ध शास्त्रों और ऋषिवचनों के आधार पर, उनका उल्लेख करते हुए किया गया है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिये कि यह ग्रन्थ विषय-विभेद से हिन्दूधर्म के प्राचीन आचार्यों के वचनों का एक संग्रह है। इस ग्रन्थ में शयनविधि नाम का भी एक विषय अर्थात् प्रकरण है। जिनसेनत्रिवर्णाचार के ११वें पर्व में 'शयनविधि' का यह सम्पूर्ण प्रकरण प्रायः ज्यों का त्यों उठाकर रखा हुआ है। त्रिवर्णाचार के बनाने वालों ने इस प्रकरण को रखने में बड़ी ही घृणित चालाकी से काम लिया है। वह 'आचारादर्श' या उसके सम्पादक का नाम तो क्या प्रकट करता, उलटा उसने यहाँ तक कूटलेखता की है कि जहाँ जहाँ इस प्रकरण में हिन्दूधर्म के किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नाम था, उस सबको बदलकर उसके स्थान में प्राचीन जैनग्रन्थ या किसी प्राचीन जैनाचार्य का नाम रख दिया है। और इस प्रकार हिन्दू ग्रन्थों के प्रमाणों को जैनग्रन्थों या जैनाचार्यों के वाक्य बतलाकर सर्वसाधारण को एक बड़े भारी धोखे में डाला है। जिनसेनत्रिवर्णाचार में ऐसा अनर्थ देखकर हृदय विदीर्ण होता है और उन जैनियों की हालत पर बड़ी ही करुणा आती है जो ऐसे ग्रन्थों को भी जैनग्रन्थ मानते हैं। अतः यहाँ पर ग्रन्थकर्ता के इस घृणित कृत्य के नमूने यत्किंचित् विस्तार के साथ दिखलाये जाते हैं—

आचारादर्श में 'शयनविधि' का आरम्भ करते हुए "तत्र विष्णुपुराणे" ऐसा लिखकर निम्नलिखित तीन श्लोक दिये हैं—

“कृतपादादिशौचस्तु भुक्त्वा सायं ततो गृही।
गेच्छदस्फुटितां शय्यामपि दारुमयीं नृप॥
नाविशालां न वा भग्नां नासमां मलिनां न च।
न च जन्तुमयीं शय्यां त्वधितिष्ठेदनास्तृताम्॥
प्राच्यां दिशि शिरः शस्तं याम्यायामथवा नृप।
सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतं तु रोगदम्॥”

जिनसेनत्रिवर्णाचार में ये तीनों श्लोक इसी क्रम से लिखे हैं। परन्तु 'तत्र विष्णुपुराणे' के स्थान

में 'श्रीभद्रबाहु उक्तं' ऐसा बना दिया है। अर्थात् त्रिवर्णाचार के कर्ता ने इन वचनों को विष्णुपुराण के स्थान में श्रीभद्रबाहुस्वामी का बतलाया है। इन तीनों श्लोकों के पश्चात् आचारादर्श में 'नन्दिपुराणे' ऐसा नाम देकर यह श्लोक लिखा है—

“नमो १८नन्दीश्वरायेति प्रोक्त्वा यः सुप्यते नरः।

तस्य कूष्माण्डराजभ्यो न भविष्यति वै भयम्॥”

इस श्लोक के पश्चात् 'अत्र हारीतः' ऐसा नाम देकर एक श्लोक और लिखा है और फिर 'अत्र शंखलिखितौ' यह दो नामसूचक पद देकर कुछ गद्य दिया है। आचारादर्श के इसी क्रमानुसार ये सब श्लोक गद्यसहित जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी मौजूद हैं, परन्तु 'नन्दिपुराण', 'हारीत' और 'शंखलिखित' इनमें से किसी का भी उल्लेख नहीं किया है। इससे त्रिवर्णाचार को पढ़ते हुए यही मालूम होता है कि ये सब श्लोक और गद्य भी भद्रबाहुस्वामी के ही वचन हैं, जिनका नाम प्रकरण के आदि में 'श्रीभद्रबाहु उक्तं' इस पद के द्वारा दिया गया है।

इसके बाद आचारादर्श में 'उशनाः' ऐसा नाम देकर यह वाक्य लिखा है—

“न तैलेनाभ्यक्तशिराः स्वपेत्”

जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी यह वाक्य उसी क्रम से मौजूद है। परन्तु 'उशनाः' के स्थान में 'भद्रबाहु' लिखा हुआ है। नहीं मालूम, ग्रन्थकर्ता ने यह पुनः 'भद्रबाहु' का नाम लिखने का परिश्रम क्यों उठाया, जबकि इससे पहले मध्य में किसी दूसरे का वचन नहीं आया था। अस्तु, आचारादर्श में इस वाक्य के अनन्तर 'पैठीनसिः' ऐसा लिखकर एक वाक्य उद्धृत किया है। जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी ऐसा ही किया गया है। अर्थात् पैठीनसिः शब्द को बदला नहीं है। बल्कि पूर्वोक्त वाक्यों के साथ में उसे मिलाकर ही लिख रखा है। इसका कारण यही मालूम होता है कि त्रिवर्णाचार के बनानेवाले की समझ में यह नहीं आ सका कि 'पैठीनसि' किसी हिन्दू ऋषि का नाम है और इसलिए उसने इसे पिछले या अगले वाक्यसम्बन्धी कोई शब्द समझकर ज्यों का त्यों ही रख दिया है। पैठीनसि के इस वाक्य के पश्चात् आचारादर्श में क्रमशः विष्णु, आपस्तम्ब, विष्णुपुराण और बृहस्पति के हवाले से कुछ गद्यपद्य देकर पराशर का यह वचन उद्धृत किया है—

“ऋतुस्नातां तु यो भार्या सन्निधौ नोपगच्छति।

स गच्छेन्नरकं घोरं ब्रह्महेति तथोच्यते॥”

जिनसेनत्रिवर्णाचार में यह सारा गद्यपद्य ज्यों का त्यों मौजूद है। परन्तु विष्णु, आपस्तम्ब, विष्णुपुराण, बृहस्पति और पराशर के नाम बिल्कुल उड़ा दिये गये हैं। इससे त्रिवर्णाचार को पढ़ते हुए ये सब वचन या तो पैठीनसि के मालूम होते हैं या भद्रबाहुस्वामी के। परन्तु वास्तव में त्रिवर्णाचार के कर्ता का अभिप्राय उन्हें भद्रबाहु के ही प्रकट करने का मालूम होता है, पैठीनसि को तो वह समझा

१८. इस श्लोक में सोते समय 'नन्दीश्वर को' नमस्कार करना लिखा है। जैनियों में नन्दीश्वर नाम का कोई देवता नहीं है। हिन्दुओं में उसका अस्तित्व जरूर माना जाता है।

ही नहीं।

पराशर के उपर्युक्त वचन के पश्चात् आचारादर्श में, दो श्लोक यम के हवाले से, एक श्लोक देवल के नाम से और फिर दो श्लोक बौधायन के नाम से उद्धृत किये हैं। जिनसेनत्रिवर्णाचार में ये सब श्लोक इसी क्रम से दिये हैं। परन्तु इन पाँचों श्लोकों में आदि के तीन श्लोक पुष्पदन्तेनोक्तं ऐसा लिखकर पुष्पदन्ताचार्य के नाम से उद्धृत किये हैं और शेष बौधायन वाले दोनों श्लोकों का समन्तभद्र के नाम से उल्लेख किया है। वे पाँचों श्लोक इस प्रकार हैं—

ऋतुस्नातां तु यो भार्या सन्निधौ नोपगच्छति।
 घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥
 भार्यामृतुमुखे यस्तु सन्निधौ नोपगच्छति।
 पितरस्तस्य तं मांसं तस्मिन् रेतसि शेरते॥
 यः स्वदारामृतुस्नातां स्वस्थः सन्नोपगच्छति।
 भ्रूणहत्यामवाप्नोति गर्भप्राप्तिं विनाश्य सः॥
 त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यो भार्या नोपगच्छति।
 सतुल्यं ब्रह्महत्याया दोषमृच्छत्यसंशयम्॥
 ऋतौ नोपेति यो भार्यामनृतौ यश्च गच्छति।
 तुल्यमाहुस्तयोर्दोषमयोर्नो यश्च सिंचति॥

पुष्पदन्त और समन्तभद्र के हवाले से उद्धृत किये हुए इन पाँचों श्लोकों में और इनसे पहले श्लोक में यह लिखा है कि, ‘जो कोई मनुष्य अपनी ऋतुस्नाता (मासिक धर्म होने के पश्चात् स्नान की हुई) स्त्री के साथ भोग नहीं करता है, वह घोर नरक में जाता है और उसको ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या इत्यादि का पाप लगता है। इसी प्रकार जो ऋतुकाल को छोड़कर दूसरे समय में अपनी स्त्री से भोग करता है वह भी ऋतुकाल में भोग न करने वाले के समान पापी होता है।’ ये सब वचन जैनधर्म और जैनियों की कर्मफिलासोफी के बिल्कुल विरुद्ध हैं और इसलिए कदापि जैनाचार्यों के नहीं हो सकते।

उपर्युक्त श्लोकों के बाद जिनसेन त्रिवर्णाचार में “तथा च उमास्वातिः” ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया है—

“षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्।
 ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत्॥”

यह ‘याज्ञवल्क्यस्मृति’ के पहले अध्याय के तीसरे प्रकरण का श्लोक नं० ७९ है। श्रीउमास्वाति या उमास्वामी महाराज का यह वचन नहीं है। आचारादर्श में भी इसको याज्ञवल्क्य का ही लिखा है। इसके पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचार में उपर्युक्त श्लोक की ‘मिताक्षरा’ टीका का कुछ अंश देकर याज्ञवल्क्यस्मृति के अगले श्लोक नं० ८० का पूर्वाद्ध दिया है और फिर पूज्यपाद के हवाले से ‘पूज्यपादेनोक्तं’ ऐसा लिखकर ये वाक्य दिये हैं—

बुधे च योषां न समाचरेत् ।
तथा पूर्णासु योषित्परिवर्जनीया ।
तथा योषिन्मघाकृत्तिकोत्तरासु ।
सुस्त इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान् ॥

इन वाक्यों में से पहले तीन वाक्यों को आचारादर्श में ‘वामनपुराण’ के हवाले से लिखा है और चौथे वाक्य को याज्ञवल्क्य का बतलाया है। चौथा वाक्य याज्ञवल्क्यस्मृति के उपर्युक्त श्लोक नं० ८० का उत्तरार्द्ध है। इसके बाद इस श्लोक नं० ८० की टीका से कुछ गद्य देकर जिनसेनत्रिवर्णाचार में, अकलंकस्वामी के हवाले से यह वाक्य लिखा है—

“लब्धाहारां स्त्रियं कुर्यादेवं संजनयेत्सुतामिति अकलंकस्मरणात्।”

यह वाक्य इससे पहले भी इस ‘शयनविधि’ प्रकरण में आ चुका है और आचारादर्श में इसे ‘बृहस्पति’ का लिखा है। इस वाक्य के अनन्तर जिनसेनत्रिवर्णाचार में ‘तत्र पुष्पदन्तः’ ऐसा लिखकर तीन श्लोक दिये हैं, जो मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में नं० ४७, ४८ और ४९ पर दर्ज हैं। आचारादर्श में भी उनको ‘मनु’ के ही लिखा है। इन श्लोकों के बाद कुछ गद्य देकर लिखा है कि ‘इत्येतद्वैतमीयं सूत्रद्वयं’। परन्तु यह सब गद्य याज्ञवल्क्यस्मृति के श्लोक नं० ८० की टीका से लिया गया है। इसके पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचार में ‘यथा माणिक्यनन्दिः’ ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया है—

“यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् ।
स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृताः॥”

यह ‘याज्ञवल्क्यस्मृति’ के प्रथम अध्याय का ८१वाँ श्लोक है। परीक्षामुख के कर्ता श्री माणिक्यनन्दि आचार्य का यह वाक्य कदापि नहीं है। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का यह अर्थ होता है कि ‘स्त्रियों को जो वर दिया गया है उसको स्मरण करता हुआ यथाकामी होवे’। याज्ञवल्क्यस्मृति की ‘मिताक्षरा’ टीका में लिखा है कि इस श्लोक में उस वर का उल्लेख है, जो इन्द्र ने स्त्रियों को दिया था और ऐसा लिखकर वह वर भी उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—

“भवतीनां कामविहन्ता पातकी स्यात् इति। यथा ता अब्रुवन् वरं वृणीमहे ऋत्विष्यात्प्रजां विन्दामहे काममाविजनिनोः सम्भवाम इति। तस्मात् ऋत्विष्यात्स्त्रियः प्रजां विन्दन्ति काममाविजनिनोः सम्भवन्ति वरं वृतं तासामिति।”

जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी इस ‘वर’ को इन्द्र का ही दिया हुआ बतलाया है और मिताक्षरा टीका के अनुसार ‘स्त्रीणां वरमिन्द्रदत्तमनुस्मरन्’ ऐसा लिखकर वर के वही शब्द ज्यों के त्यों नकल कर दिये हैं जो ऊपर उद्धृत किये गये हैं। इस वर का अर्थ इस प्रकार है कि—

“जो तुम्हारी कामना को न करेगा, वह पातकी होगा, वे स्त्रियें बोलीं कि हम वर को स्वीकार करती हैं और ऋतु से हमारे प्रजा (संतान) हो और प्रजा के होने तक काम की चेष्टा रहे। इसीलिए स्त्रियें ऋतु से ही संतान को प्राप्त होती हैं और संतान होने तक कामचेष्टा बनी रहती है, यही स्त्रियों

का वर है।”

जैनसिद्धान्त से थोड़ा भी परिचय रखने वाले पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह कथन जैनसिद्धान्त के बिल्कुल ही विरुद्ध है। परन्तु फिर भी त्रिवर्णाचार का कर्ता, माणिक्यनन्दि जैसे प्राचीन आचार्यों को ऐसे उत्सूत्र वचन का अपराधी ठहराता है। इस धृष्टता और धूर्तता का कहीं कुछ ठिकाना है।

इस ‘वर’ के पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचार में ‘इन्द्रवरे काठकप्रचनं यथा’ ऐसा लिखकर उपर्युक्त ‘यथाकामी...’ इत्यादि श्लोक के उत्तरार्द्ध की कुछ टीका दी है और फिर यह लिखा है कि भोग करते समय कैसे-कैसे पुत्रों की इच्छा करे, अर्थात् पुत्रों की इच्छाओं के संकल्प दिये हैं। इन संकल्पों का कथन करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि ‘यथोक्तं जयधवले’ अर्थात् जैसा ‘जयधवल’ शास्त्र में कहा है। परन्तु ग्रन्थकार का ऐसा लिखना बिल्कुल मिथ्या है। जयधवल एक सिद्धान्तग्रन्थ है, उसका इस प्रकार का विषय ही नहीं है।

इसके बाद जिनसेनत्रिवर्णाचार में पुत्रों की इस इच्छा के सिलसिले में “यथाह जिनचन्द्रचूडामणौ” ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया है—

“ऋतौ तु गर्भशंकित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्।
अनृतौ तु सदा कार्यं शौचं मूत्रपुरीषवत्॥”

आचारादर्श में इस श्लोक को ‘वृद्धशातातप’ का लिखा है और वृद्धशातातप की स्मृति में यह श्लोक नं० ३३ पर दर्ज है। इस श्लोक के अनन्तर आचारादर्श में ‘गौतम’ का नामोल्लेख करके गद्य में मैथुनी शौच का कुछ वर्णन दिया है। जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी ‘तथा च गौतमः’ लिखकर यह सब वर्णन उसी प्रकार से उद्धृत किया है। यहाँ न बदलने का कारण स्पष्ट है। जैनियों में ‘गौतम’ महावीर स्वामी के मुख्य गणधर का नाम है और हिन्दूधर्म में ‘गौतम’ नाम के एक ऋषि हुए हैं। नामसाम्य के कारण ही त्रिवर्णाचार के कर्ता ने उसे ज्यों का त्यों रहने दिया है। अन्यथा और बहुत से स्थानों पर उसने जानबूझकर हिन्दूधर्म के दूसरे ऋषियों के स्थान में ‘गौतम’ का परिवर्तन किया है। त्रिवर्णाचार के कर्ता का अभिप्राय ‘गौतम’ से गौतमगणधर है। परन्तु उसे गौतम के नाम से उल्लेख करते हुए कहीं भी इस बात का जरा खयाल नहीं आया कि, गौतमगणधर का बनाया हुआ कोई ग्रन्थ नहीं है, जिसके नाम से कोई वचन उद्धृत किया जाये और जो द्वादशांग सूत्रों की रचना उनकी की हुई थी वह मागधी भाषा में थी, संस्कृत भाषा में नहीं थी जिसमें उनके वचन उद्धृत किये जा रहे हैं। अस्तु, गौतम के हवाले से दिये हुए इस गद्य के पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचार में “तत्राह महाधवले” ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया है—

“द्वावेतावशुची स्यातां दम्पती शयनं गतौ।
शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान्॥”

आचारादर्श में यह श्लोक वृद्धशातातप के हवाले से उद्धृत किया है और वृद्धशातातप की

स्मृति में नं० ३४ पर दर्ज है। त्रिवर्णाचार के कर्ता का इस श्लोक को 'महाधवल' जैसे सिद्धान्तग्रन्थ का बतलाना नितान्त मिथ्या है।

इस श्लोक के बाद आचारादर्श के अनुसार जिनसेनत्रिवर्णाचार में इसी विषय का कुछ गद्य दिया गया है और फिर 'अथ धवलेप्युक्तं' (धवल ग्रन्थ में ऐसा ही कहा है) ऐसा लिखकर सात श्लोक दिये हैं। उनमें से पाँच श्लोकों में यह लिखा है कि कैसी-कैसी स्त्री से और किस-किस स्थान में भोग नहीं करना चाहिए। शेष दो श्लोकों में पर्वों के नामादिक का कथन किया है। आचारादर्श में ये सब श्लोक विष्णुपुराण के हवाले से उद्धृत किये हैं। त्रिवर्णाचार के कर्ता ने विष्णुपुराण के स्थान में "अथ धवलेप्युक्तं" ऐसा बना दिया है। इन सातों श्लोकों में से अन्त के दो श्लोक इस प्रकार हैं—

“चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावस्याथ पूर्णिमा।

पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेव च॥

तैलस्त्रीमांसभोगी च पर्वस्वेतेषु यः पुमान्।

विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं नरः॥”

इन दोनों श्लोकों में से पहले श्लोक में जिन 'अमावस्या', 'पूर्णिमा' और 'रविसंक्रान्ति' को पर्व वर्णन किया है, वे जैन पर्व नहीं हैं, और दूसरे श्लोक में जो यह कथन किया है कि इन पर्वों में तैल, स्त्री और मांस का सेवन करने वाला मनुष्य विष्टा और मूत्र नाम के नरक में जाता है, वह सब जैनसिद्धान्त के विरुद्ध है। इन सब श्लोकों के अनन्तर जिनसेनत्रिवर्णाचार में पात्रकेसरी (विद्यानन्द) के हवाले से 'तथा च पात्रकेसरिणा' लिखकर कुछ गद्य नकल किया है, जिसमें यह कथन है कि कैसी स्त्री से, कैसी हालत में और कौन-कौन स्थानों में मैथुन नहीं करना चाहिए। यह सब गद्य आचारादर्श में क्रमशः वसिष्ठ और विष्णु के हवाले से उद्धृत किया है। इस प्रकार आचारादर्श और जिनसेनत्रिवर्णाचार में 'शयनविधि' का यह सब कथन समाप्त होता है। ऊपर के इस समस्त कथन से पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि जिनसेनत्रिवर्णाचार के बनाने वाले ने जैन के नाम को भी लज्जित करने वाला यह कैसा घृणित कार्य किया है और किस प्रकार से श्रीमद्भद्रबाहु, पुष्पदन्त, समन्तभद्र, उमास्वामी, पूज्यपाद, अकलंकदेव, माणिक्यनन्दि और पात्रकेसरी जैसे प्राचीन आचार्यों तथा धवल, जयधवल और महाधवल जैसे प्राचीन ग्रन्थों के पवित्र नाम को बदनाम करने की चेष्टा की है। क्या इससे भी अधिक जैनधर्म और जैनसमाज का कोई शत्रु हो सकता है? कदापि नहीं।

(३) जिनसेनत्रिवर्णाचार के १७वें पर्व में सूतक के चार भेदों का वर्णन करते हुए आर्तव नाम के सूतक का कथन करने की प्रतिज्ञा इस प्रकार की गई है—

“सूतकं स्याच्चतुर्भेदमार्तवं सौतिकं तथा।

मार्तं तत्संगजं चेति तत्रार्तवं निगद्यते॥४॥”

इस प्रतिज्ञावाक्य के अनन्तर प्रायः गद्य में एक लम्बा चौड़ा अशौच का वर्णन दिया है और इसी वर्णन में यह १७वाँ पर्व समाप्त कर दिया है। परन्तु इस सारे पर्व में कहीं भी उपर्युक्त 'प्रतिज्ञा' का

पालन नहीं किया है। अर्थात् कहीं भी आर्तव नाम के सूतक या अशौच का कथन नहीं किया है। इस पर्व में कथन है ‘जननाशौच’ और ‘मृताशौच’ का जिसकी कोई प्रतिज्ञा नहीं की गई। १८वें पर्व में भी पुनः अशौच का वर्णन पाया जाता है। परन्तु यह वर्णन गद्य में न देकर केवल पद्य में किया है। इस पर्व का प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि अथ “वृत्तेन विशेषमाशौचमाह”। अर्थात् अब पद्य द्वारा अशौच का विशेष^{१९} कथन किया जाता है। इस प्रतिज्ञा के बाद, १८वें पर्व में, निम्नलिखित तीन श्लोक दिये हैं—

“नत्वा श्रीश्वरनाथाख्यं कृतिना मुक्तिदायकम्।
विश्वमांगल्यकर्तारं नानाग्रन्थपदप्रदम्॥१॥
ब्राह्मणक्षत्रवैश्यानां शूद्रादीनां विशेषतः।
सूतकेन निवर्तेन विना पूजा न जायेते॥२॥
रजः पुष्पं ऋतुश्चेति नामान्यस्यैव लोकतः।
द्विविधं तत्तु नारीणां प्राकृतं विकृतं भवेत्॥३॥

ये श्लोक परस्पर असम्बद्ध मालूम होते हैं। इन श्लोकों में से पहले श्लोक में ‘श्रीश्वरनाथ नाम के व्यक्ति को नमस्कार करके’ ऐसा लिखा है, परन्तु नमस्कार करके क्या करते हैं ऐसी प्रतिज्ञा कुछ नहीं दी। दूसरे श्लोक में सूतकाचरण की आवश्यकता प्रकट की गई है और तीसरे श्लोक में यह लिखा है कि रज, पुष्प और ऋतु, ये लोकव्यवहार में इसी के नाम हैं और वह स्त्रियों के दो प्रकार का होता है। एक प्राकृत और दूसरा विकृत। परन्तु इस श्लोक में ‘अस्यैव’ (इसी के) और ‘तत्’ (वह) शब्दों से किसका ग्रहण किया जाये, इस बात को बतलाने वाला कोई भी शब्द इस १८वें पर्व में इससे पहले नहीं आया है। इसलिए यह तीसरा श्लोक बिल्कुल बेढंगा मालूम होता है। इस तीसरे श्लोक का सम्बन्ध १७वें पर्व में दिये हुए उपर्युक्त श्लोक नं० ४ (सूतकं स्याच्चतु---) से भले प्रकार मिलता है। उस श्लोक में जिस ‘आर्तव’ के कथन की प्रतिज्ञा की गई है, उसी आर्तव के कथन का सिलसिला इस श्लोक में और इससे आगे के श्लोक में पाया जाता है। असल में १७वें पर्व का उपर्युक्त श्लोक नं० ४ और उससे पहले के तीनों श्लोक तथा १८वें पर्व का यह श्लोक नं० ३ और इससे आगे के कुल श्लोक सोमसेन त्रिवर्णाचार के १३वें अध्याय से ज्यों के त्यों नकल किये गये हैं (जिनसेन त्रिवर्णाचार के १७वें अध्याय के पहले चार श्लोकों को १८वें पर्व के तीसरे श्लोक और उससे आगे के श्लोकों के साथ मिला देने से सोमसेन त्रिवर्णाचार का पूरा १३वाँ अध्याय बन जाता है) जिनसेन त्रिवर्णाचार के कर्ता ने सोमसेन त्रिवर्णाचार के १३वें अध्याय को इस प्रकार दो भागों में विभाजित कर और उनके बीच में व्यर्थ ही गद्यपद्यमय अशौच का एक लम्बा चौड़ा प्रकरण डालकर दोनों पर्वों में बड़ी ही असमंजसता पैदा कर दी है और इस असमंजसता के साथ ही एक बड़ा भारी अनर्थ यह किया है कि

१९. विशेष कथन सिर्फ इतना ही है कि इसमें ‘आर्तव’ नाम के अशौच का भी कथन किया गया है, शेष जननाशौच और मृताशौच का कथन प्रायः पहले कथन से मिलता जुलता है।

उक्त गद्यपद्यमय अशौच प्रकरण को प्राचीन जैनाचार्यों का बतलाकर लोगों को धोखा दिया है। वास्तव में यह प्रकरण किसी हिन्दूग्रन्थ से लिया गया है। जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता ने जिस प्रकार और कई प्रकरण हिन्दूधर्म के ग्रन्थों से उठाकर रखे हैं, उसी प्रकार यह प्रकरण भी किसी हिन्दूग्रन्थ से ज्यों का त्यों नक़ल किया है। हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों में इस प्रकार के, आशौचनिर्णय के अनेक प्रकरण पाये जाते हैं, जिनमें अनेक ऋषियों के हवाले से विषय का विवेचन किया गया है। इस प्रकरण में भी स्थान-स्थान पर हिन्दू ऋषियों के वचनों का उल्लेख मिलता है। जिनसेनत्रिवर्णाचार के बनाने वाले ने यद्यपि इतना छल किया है कि हिन्दू ऋषियों के नामों के स्थान में गौतम, भद्रबाहु और समन्तभद्रादि प्राचीन जैनाचार्यों के नाम डाल दिये हैं और कहीं-कहीं उनका नाम कतई निकाल भी दिया है, परन्तु फिर भी ग्रन्थकर्ता की असावधानी या उसकी नासमझी के कारण कई स्थानों पर कुछ हिन्दू ऋषियों के नाम बदलने या निकालने से रह गये हैं। इससे साफ़ जाहिर है कि यह प्रकरण किसी हिन्दू ग्रन्थ से चुराया गया है। इस प्रकरण के कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

(क) जिनसेनत्रिवर्णाचार में आशौच का यह प्रकरण प्रारम्भ करते हुए 'गौतम उवाच' ऐसा लिखकर यह वाक्य दिया है—

आचतुर्थाद्भवेत्त्रावः पातः पंचमषष्ठयोः।

अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्यादिति।

यह वाक्य मरीचि ऋषि का प्रसिद्ध है और 'आशौचनिर्णय' नाम के बहुत से प्रकरणों की आदि में पाया जाता है। 'स्यात्' शब्द के बाद इसका चौथा चरण है—'दशाहं सूतकं भवेत्'। निर्णयसिंधु और मिताक्षरादि ग्रन्थों में भी इस वाक्य को मरीचि ऋषि के नाम से उद्धृत किया है। परन्तु त्रिवर्णाचार के कर्ता ने इसे गौतमस्वामी का बतलाया है।

(ख) इस प्रकरण में जो वाक्य बिना किसी हवाले के पाये जाते हैं, उनमें से कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः।

श्रुत्वा तद्विनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत्॥

यह वाक्य 'पैठीनसि' ऋषि का है। मिताक्षरादि ग्रन्थों के आशौचप्रकरण में भी इसे पैठीनसि का ही लिखा है।

आत्मपितृष्वसुः पुत्रा आत्ममातृष्वसुः सुताः।

आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया आत्मबान्धवाः॥१॥

पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुः सुताः।

पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः॥२॥

मातुः पितृष्वसुः पुत्रा मातुर्मातृष्वसुः सुताः।

मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः॥३॥

इन तीनों श्लोकों को 'स्मृतिरत्नाकर' आदि ग्रन्थों में विज्ञानेश्वर का वचन लिखा है। विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्यस्मृति की 'मिताक्षरा' टीका का कर्ता है। इस प्रकरण में दूसरे स्थानों पर 'इति विज्ञानेश्वरादयः' 'इदं च सर्वं विज्ञानेश्वराद्यनुरोधेनोक्तं', 'इति विज्ञानेश्वरः' इत्यादि पदों के द्वारा विज्ञानेश्वर के नाम का उल्लेख पाया जाता है। वह बदलने या निकालने का रह गया है।

(ग) उपर्युक्त श्लोकों से थोड़ी दूर आगे चलकर, इस प्रकरण में, निम्नलिखित पाँच वाक्य दिये हैं।

१. 'असपिंडस्यापि यद्गृहे मरणं तद्गृहस्वामिस्त्रिरात्रमित्यंगिराः।'
२. 'एकरात्रमिति।'
३. 'तथा च गौतमः - त्र्यहं मातामहाचार्यश्रोत्रियेष्वशुचिर्भवेत्।'
४. 'प्रचेताः मातृष्वसामातुल्योश्च श्वश्रुश्वशुरयोगुरौ मृते चत्विजियाज्ये च त्रिरात्रेण विशुध्यति।'
५. 'संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते। संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति गौतमः।'

इन वाक्यों में पहले नम्बर का वाक्य अंगिरा ऋषि का है। अंगिरा का नाम भी इस वाक्य के अन्त में मिला हुआ है। शायद इस मिलाप के कारण ही त्रिवर्णाचार के कर्ता को इसके बदलने का खयाल नहीं आया। अन्यथा उसने स्वयं दूसरे स्थान पर इसी प्रकरण में अंगिरा ऋषि के निम्नलिखित श्लोक को 'तथा च गौतमः' लिखकर गौतमस्वामी का बना दिया है—

**२० यदि कश्चित्प्रमादेन प्रियेताग्न्युदकादिभिः।
तस्याशौचं विधातव्यं कर्तव्या चोदकक्रिया॥**

दूसरे नम्बर का वचन विष्णु का है। इसके अन्त में 'विष्णु' ऐसा नाम नहीं दिया है। यह पूरा वाक्य 'असपिण्डे स्ववेश्मनि मृते एकरात्रमिति' ऐसा है। मिताक्षरा में भी इसको विष्णु का ही लिखा है। तीसरे नम्बर का वाक्य बृहस्पति का है, जिसके स्थान में 'तथा च गौतमः' बनाया गया है। मिताक्षरा में भी 'बृहस्पति' का लिखा है। चौथे नम्बर का वाक्य 'प्रचेताः' नाम के एक हिन्दू ऋषि का है। इसके प्रारम्भ में 'प्रचेता' ऐसा नाम भी दिया है। परन्तु मालूम होता है कि त्रिवर्णाचार के कर्ता की समझ में यह कोई नाम नहीं आया है और इसलिए उसने इस 'प्रचेताः' को भी वाक्य के अन्तर्गत कोई शब्द समझकर ज्यों का त्यों रहने दिया है। इस वाक्य का अन्तिम भाग, 'मृते चत्विजी...' मिताक्षरा में प्रचेता के नाम से उल्लिखित है। पाँचवें नम्बर का वाक्य वसिष्ठ ऋषि का वचन है। इसके अन्त में 'धर्मो व्यवस्थितः' इतना पद और था जिसके स्थान में 'गौतमः' बनाया है। मिताक्षरा में भी इसको वसिष्ठ का ही वचन लिखा है।

(घ) एक स्थान पर 'श्रीसमन्तभद्रः' ऐसा लिखकर निम्नलिखित दो श्लोक दिये हैं—

**“प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
अनुगच्छेन्नीयमानं स त्रिरात्रेण शुद्ध्यति॥**

२०. यह श्लोक मिताक्षरा में भी अंगिरा ऋषि का लिखा है। वहाँ 'यदि' शब्द के स्थान में 'अथ' दिया है।

त्रिरात्रे तु ततश्चीर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम्।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति॥”

ये दोनों श्लोक पाराशर ऋषि के हैं और पाराशरस्मृति में नम्बर ४७ और ४८ पर दर्ज हैं। मिताक्षरा में भी इनका पाराशर के नाम से उल्लेख है। त्रिवर्णाचार के कर्ता का इन्हें श्रीसमन्तभद्र स्वामी के बतलाना निरी धूर्तता है।

(ड) इसी प्रकरण में एक स्थान पर ‘विशेषमाहाकलंकः’ ऐसा लिखकर ये दो श्लोक दिये हैं—

वृद्धः शौचक्रिया^{२१}लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः।
आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यशनाम्बुभिः॥
तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसंचयः।
तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत्॥

ये दोनों श्लोक ‘अत्रि’ ऋषि के हैं और ‘अत्रिस्मृति’ में नम्बर २१४ और २१५ पर दर्ज हैं। इन श्लोकों में लिखा है कि ‘यदि कोई वृद्ध पुरुष जिसे शौचाशौच का कुछ ज्ञान न रहा हो और वैद्यों ने भी जिसकी चिकित्सा करनी छोड़ दी हो, गिरने या अग्नि में प्रवेश करने आदि के द्वारा आत्मघात करके मर जाये तो उसके मरने का आशौच सिर्फ तीन दिन का होगा। दूसरे ही दिन उसकी हड्डियों का संचय करना चाहिए और तीसरे दिन जलदान क्रिया करके चौथे दिन श्राद्ध करना चाहिए।’ जिनसेनत्रिवर्णाचार का कर्ता हिन्दूधर्म के इन वचनों को श्री अकलंक स्वामी के बतलाता है, यह कितना धोखा है!! इसी प्रकार और बहुत से स्थानों पर हिन्दू ऋषियों की जगह गौतम और समन्तभद्रादि के नामों का परिवर्तन करके लोगों को धोखा दिया गया है।

(४) पहले यह प्रकट किया जा चुका है कि हिन्दुओं के ज्योतिष ग्रन्थों में ‘मुहूर्तचिन्तामणि’ नाम का एक ग्रन्थ है और उस ग्रन्थ पर ‘प्रमिताक्षरा’ और ‘पीयूषधारा’ नाम की दो संस्कृत टीकायें हैं। जिनसेनत्रिवर्णाचार में इस मुहूर्तचिन्तामणि ग्रन्थ और उसकी टीकाओं से बहुत-सा गद्यपद्य उठाकर ज्यों का त्यों रखा गया है। इस गद्यपद्य को उठाकर रखने में भी उसी प्रकार की धूर्तता और चालाकी से काम लिया गया है जिसका दिग्दर्शन पाठकों को ऊपर कराया गया है। अर्थात् जिनसेनत्रिवर्णाचार के बनानेवाले ने कहीं भी यह प्रकट नहीं किया कि उसने यह कथन ‘मुहूर्तचिन्तामणि’ या उसकी टीकाओं से लिया है। प्रत्युत इस बात की बराबर चेष्टा की है कि यह सब कथन जैनाचार्यों का ही समझा जाये। यही कारण है कि उसने अनेक स्थानों पर हिन्दू ऋषियों के नामों को जैनाचार्यों के नामों के साथ बदल दिया है और कहीं-कहीं हिन्दू ऋषियों के नाम की जगह ‘अन्यः’ ‘अन्यमतं’ या ‘अपरमतं’ भी बना दिया है जिससे यह भी उसी सिलसिले में जैनाचार्यों का ही मतविशेष समझा जाये। इसी प्रकार हिन्दूग्रन्थों के स्थान में जैनग्रन्थों के नाम का परिवर्तन भी किया गया है। इस धूर्तता और चालाकी के भी कुछ थोड़े से नमूने नीचे प्रकट किये जाते हैं—

२१. अत्रिस्मृति में ‘क्रियालुप्तः’ के स्थान में ‘स्मृतेर्लुप्तः’ दिया है।

१. मुहूर्तचिन्तामणि के संस्कार प्रकरण में, टीका द्वारा यह प्रस्तावना करते हुए कि 'अथ प्राप्तकालत्वादक्षराणामारंभमुहूर्तं पंचचामरच्छंदसाह' एक पद्य इस प्रकार दिया है—

गणेशविष्णुवाग्रमाः प्रपूज्य पंचमाब्दके ।
तिथौ शिवार्कदिग्विष्टशरत्रिके रवावुदक् ।
लघुश्रवो निलांत्यभादितीश तक्षमित्रमे ।
चरो न सत्तनौ शिशोर्लिपिग्रहः सतां दिने॥३७॥

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १२वें पर्व में यह पद्य उपर्युक्त प्रस्तावना के साथ ही दिया है। परन्तु इस पद्य को जैनमत का बनाने के लिए इसके पहले चरण में 'गणेशविष्णु' के स्थान में 'जिनेशदेवि' ऐसा परिवर्तन किया गया है और रमा (लक्ष्मी) का पूजन बदस्तूर रखा है।

२. मुहूर्तचिन्तामणि के इसी संस्कारप्रकरण के श्लोक नं० ५४ की 'प्रमिताक्षरा' टीका में 'तथा च वसिष्ठः' ऐसा लिखकर एक पद्य इस प्रकार दिया है—

“या चैत्रवैशाखसिता तृतीया माघस्य सप्यम्यथ फाल्गुनस्य ।
कृष्णो द्वितीयोपनये प्रशस्ता प्रोक्ता भरद्वाजमुनीन्द्रमुख्यैः॥”

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १२वें पर्व में मुहूर्तचिन्तामणि के श्लोक नं० ५४ को देकर और उसकी टीका में से कुछ गद्य पद्य को नक़ल करते हुए यह पद्य भी उद्धृत किया है। परन्तु उसके उद्धृत करने में यह चालाकी की गई है कि 'तथा च वसिष्ठः' की जगह 'अन्यः' ऐसा शब्द बना दिया है और अन्तिम चरण का 'प्रोक्ता महावीरगणेशमुख्यैः' इस रूप में परिवर्तन कर दिया है, जिससे यह पद्य जैनमत का ही नहीं बल्कि महावीरस्वामी और गौतमगणधर का अथवा महावीर के मुख्य गणधर गौतमस्वामी का वचन समझा जाये। यहाँ 'तथा च वसिष्ठः' के स्थान में 'अन्यः' बनाने से पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि त्रिवर्णाचार के कर्ता का अभिप्राय इस 'अन्यः' शब्द से किसी अजैन ऋषि को सूचित करने का नहीं था। यदि ऐसा होता तो वह 'भरद्वाजमुनीन्द्र' के स्थान में 'महावीरगणेश' ऐसा परिवर्तन करने का कदापि परिश्रम न उठाता। इसी प्रकार उसने और स्थानों पर भी 'अन्यः', 'अन्यमतं' या 'अपरमतं' बनाया है।

३. उपर्युक्त श्लोक नं० ५४ की व्याख्या करते हुए 'प्रमिताक्षरा' टीका में एक स्थान पर 'नैमित्तिका अनध्यायस्तु स्मृत्यर्थसारे' ऐसा लिखकर कुछ गद्य दिया है। जिनसेन त्रिवर्णाचार में भी वह सब गद्य ज्यों का त्यों नक़ल किया गया है। परन्तु उससे पहले 'नैमित्तिका अनध्याया भद्रबाहुसंहितासारे' ऐसा लिखा है अर्थात् त्रिवर्णाचार के कर्ता ने 'स्मृत्यर्थसार' नाम के एक हिन्दू ग्रन्थ के स्थान में 'भद्रबाहुसंहितासार' ऐसा जैनग्रन्थ का नाम दिया है। इसी प्रकार मुहूर्तचिन्तामणि के श्लोक नं० ३९ की टीका में 'आपस्तम्ब गृह्यसूत्र' के हवाले से कुछ गद्य दिया हुआ है। जिनसेन त्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में वह गद्य ज्यों का त्यों नक़ल किया गया है, परन्तु 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र' के स्थान में 'उपासकाध्ययनसार' ऐसा नाम बदलकर रखा है।

४. मुहूर्तचिन्तामणि (संस्कार प्रकरण) के श्लोक नं० ४० की टीका में नारद के हवाले से यह वाक्य दिया है—

“नारदेन यत्सप्तमीत्रयोदश्याः प्राशस्त्यमुक्तं तद्वसन्ताभिप्रायेणेति ज्ञेयम्।”

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में यह वाक्य ज्यों का त्यों नक़ल किया गया है। परन्तु ‘नारदेन’ के स्थान में ‘भद्रबाहुना’ बनाकर इसको भी भद्रबाहुस्वामी का प्रकट किया गया है। इस वाक्य के पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचार में टीका के अनुसार एक ‘उक्तं च’ श्लोक देकर (जो नारद का वचन है) और ‘भद्रबाहुसंहितायां गलग्रहास्तितथयः’ ऐसा लिखकर निम्नलिखित श्लोक और कुछ गद्य दिया है—

“कृष्णपक्षे चतुर्थीति सप्तम्यादि दिनत्रयम्।

चतुर्दशी चतुष्कं च अष्टावेते गलग्रहाः॥”

यह श्लोक और इससे आगे का गद्य दोनों वसिष्ठ ऋषि के वचन हैं, ऐसा टीका में लिखा है। परन्तु त्रिवर्णाचार के कर्ता ने इन्हें वसिष्ठ के स्थान में ‘भद्रबाहुसंहिता’ का बतलाया है और गद्य के अन्त में टीका के अनुसार जो ‘सदिति वसिष्ठोक्तेः’ ऐसा नक़ल करके रखा है। उसका उसे कुछ भी ख्याल नहीं रहा।

५. मुहूर्तचिन्तामणि (संस्कार प्रकरण) के श्लोक नं० ४४ की दोनों टीकाओं में निम्नलिखित श्लोक क्रमशः नारद और वसिष्ठ के हवाले से दिये हैं—

“शाखाधिपतिवारश्च शाखाधिपबलं शिशोः।

शाखाधिपतिलग्नं च त्रितयं दुर्लभं व्रते॥

शाखेशगुरुशुक्राणां मौढ्ये बाल्ये च वार्धके।

नैवोपनयनं कार्यं वर्णशे दुर्बले सति॥”

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में इन दोनों श्लोकों को नारदादि के स्थान में ‘गौतमः’ लिखकर गौतमस्वामी का बना दिया है। त्रिवर्णाचार के कर्ता को ‘गौतम’ यह नाम कुछ ऐसा प्रिय था कि उसने जगह-जगह पर इसका बहुत ही प्रयोग किया है। मुहूर्तचिन्तामणि के श्लोक नं० ४२ की टीका में एक स्थान पर यह वाक्य था कि “कश्यपस्तूच्चस्थं लग्नस्थं चन्द्रं सदैव न्यषेधीत्” इस वाक्य में भी ‘कश्यप’ ऋषि के स्थान में ‘गौतम’ बदलकर त्रिवर्णाचार के कर्ता ने “गौतमस्तूच्चस्थं चन्द्रं सदैव न्यषेधीत्” ऐसा बना दिया है। इसी प्रकार मुहूर्तचिन्तामणि के श्लोक नं० ४६, ५१ और ५३ की टीकाओं में कुछ श्लोक नारद के हवाले से थे, उन्हें भी नक़ल करते समय जिनसेनत्रिवर्णाचार में गौतम के बना दिया है।

६. मुहूर्तचिन्तामणि में श्लोक नं० ४४ की टीका को प्रारम्भ करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि—

“यथा गुरुः ऋग्वेदिनामीशोऽतो गुरुवारे गुरुलग्ने धनमीनाख्ये गुरुबले च सत्युपनयनं शुभम्।”

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में भी यह वाक्य इसी प्रकार से उपर्युक्त श्लोक की टीका को प्रारम्भ करते हुए दिया है। परन्तु 'ऋग्वेदिनामीशः' के स्थान में 'प्रथमानुयोगिनामीशः' ऐसा बदलकर रखा गया है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी जहाँ टीका में हिन्दूवेदों के नाम आये हैं, जिनसेनत्रिवर्णाचार में उनके स्थान में जैनमत के अनुयोगों के नाम बना दिये हैं।

७. 'केशान्तसमावर्तन' मुहूर्त का वर्णन करते हुए मुहूर्तचिन्तामणि के श्लोक नं० ६० की 'प्रमिताक्षरा' टीका में 'आश्वलायन' ऋषि के हवाले से एक श्लोक दिया है और उसके आगे फिर कुछ गद्य लिखा है। वह श्लोक और गद्य का कुछ अंश इस प्रकार है—

प्रथमं स्यान्महानाम्नी द्वितीयं च महाव्रतम्।

तृतीयं स्यादुपनिषद्गोदानाख्यं ततः परम्॥

अत्र जाताधिकाराद्गोदानं जन्माद्यके तु षोडशे इति वृत्तिकारवचनात् त्रयोदशे महानाम्न्यादि भवन्ति। त्रयोदशे महानाम्नी चतुर्दशे महाव्रतं पंचदशे उपनिषद्व्रतं षोडशे गोदानमिति। एवं क्षत्रिय...॥

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में यह सब गद्य पद्य ज्यों का त्यों नक़ल किया गया है। परन्तु उपर्युक्त श्लोक से पहले 'आश्वलायन' के स्थान में 'श्रीभद्रबाहु' बना दिया है। इस गद्य पद्य में जिन महानाम्नी और उपनिषद् आदि व्रतों के अनुष्ठान का वर्णन किया गया है, वे सब हिन्दूमत के व्रत हैं, जैनमत के नहीं। इसलिए यह कथन जैनाचार्य श्रीभद्रबाहु स्वामी का नहीं हो सकता।

जिनसेनत्रिवर्णाचार के बनानेवाले ने इस प्रकार बहुत से प्रकरणों को हिन्दूधर्म के ग्रन्थों से उठाकर रखने और उन्हें जैनमत के प्रकट करने में बड़ी ही धूर्तता और धृष्टता से काम लिया है। उसका यह कृत्य बड़ी ही घृणा की दृष्टि से देखे जाने योग्य है।

[३]

अब यहाँ पर संक्षेप में धर्मविरुद्ध कथनों के कुछ विशेष नमूने दिखलाये जाते हैं। जिससे जैनियों की ओर भी कुछ बहुत आँखें खुलें और उन्हें ऐसे जाली ग्रन्थों को अपने भण्डारों से अलग करने की सद्बुद्धि प्राप्त हो—

१. मिट्टी की स्तुति और उससे प्रार्थना

जिनसेनत्रिवर्णाचार के चौथे पर्व में मृत्तिका-स्नान के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक दिये हैं—

शुद्धतीर्थसमुत्पन्ना मृत्तिका परमाद्भुता।

सर्वपापहरा श्रेष्ठा सर्वमांगल्यदायिनी॥

सिद्धक्षेत्रेषु संजाता गंगाकूले समुद्भवा।

मृत्तिके हर नो पापं यन्मया पूर्वसंचितम्॥

अनादिनिधना देवी सर्वकल्याणकारिणी।

पुण्यसस्यादिजननी सुखसौभाग्यवर्द्धिनी॥

इन श्लोकों में गंगा आदि नदियों के किनारे की मिट्टी की स्तुति की गई है। और उसे सर्व पापों

की हरनेवाली, समस्त मंगलों के देनेवाली, सम्पूर्ण कल्याणों की करनेवाली, पुण्य को उपजानेवाली और सुखसौभाग्य को बढ़ानेवाली अनादिनिधना देवी बतलाया है। दूसरे श्लोक में उससे यह प्रार्थना की गई है कि हे मिट्टी! तू मेरे पूर्वसंचित पापों को दूर कर दे। यह सब कथन जैनधर्म से असम्बद्ध है और हिन्दूधर्म के ग्रन्थों से लिया हुआ मालूम होता है। जैनसिद्धान्त के अनुसार मिट्टी पापों को हरनेवाली नहीं है और न कोई ऐसी चैतन्यशक्ति है जिससे प्रार्थना की जाये। हिन्दूधर्म में मिट्टी की ऐसी प्रतिष्ठा अवश्य है। हिन्दुओं के वह्निपुराण में स्नान के समय मृत्तिका-लेपन का विधान करते हुए मिट्टी से यही पापों के हरने की प्रार्थना की गई है। जैसा कि निम्नलिखित श्लोकों से प्रकट है—

उद्धृतासि वराहेण कृष्णोनामितबाहुना।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया पूर्वसंचितम्॥
मृत्तिके जहि मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्।
त्वया हतेन पापेन ब्रह्मलोकं ब्रजाम्यहम्॥^{२२}

वह्निपुराण के इन श्लोकों में से पहले श्लोक का उत्तरार्द्ध और जिनसेनत्रिवर्णाचार के ऊपर उद्धृत किये हुए दूसरे श्लोक का उत्तरार्द्ध, ये दोनों एक ही हैं। इससे और भी स्पष्ट है कि यह कथन हिन्दूधर्म से लिया गया है। जैनियों के आर्षग्रन्थों में कहीं भी ऐसा कथन नहीं है।

२. गोमूत्र से स्नान

जिनसेनत्रिवर्णाचार में ऊपर उद्धृत किये हुए तीसरे श्लोक के अनन्तर, पंच^{२३}गव्य (गौ का मूत्र, गोबर, घी, दूध और दही को ‘पंचगव्य’ कहते हैं) से अर्थात् गोमूत्रादि से स्नान करना लिखा है और फिर सूर्य के सामने खड़ा होकर शरीरशुद्धि स्नान का विधान किया है। इसके पश्चात् सिर पर पानी के छींटे देने के कुछ मंत्र लिखकर संध्यावन्दन करना और उसके बाद सूर्य की उपासना करनी चाहिए, ऐसा लिखा है।

यथा—

“निमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य अमृते अमृतोद्भवे पंचगव्यस्नानं सूर्याभिमुखं स्थित्वा शरीरशुद्धिस्नानं कुर्यात्।...संध्यावन्दनानन्तरं सूर्योपस्थापनं कर्तव्यम्।”

और भी कई स्थानों पर पंचगव्य से स्नान करने का विधान किया है। एक स्थान पर इसी पर्व में नित्यस्नान के लिए गंगादि नदियों के किनारे पर पंचगव्यादि के ग्रहण करने का उपदेश दिया है। यथा—

“अथातो नित्यस्नानार्थं गंगादिमहानदीनदार्णवतीरे पंचगव्यादिकुशतिलाक्षततीर्थमृत्तिका गृहीत्वा...।”

२२. देखो शब्दकल्पद्रुम कोश में मृत्तिका शब्द।

२३. गौ का मूत्र, गोबर, घी, दूध और दही को ‘पंचगव्य’ कहते हैं।

यह सब कथन भी हिन्दूधर्म का है। हिन्दूओं के यहाँ ही गोमय और गोमूत्र का बहुत बड़ा माहात्म्य है। वे इन्हें परम पवित्र मानते हैं और इनसे स्नान करना तो क्या, इनका भक्षण तक करते हैं। उनके वाराहपुराण में पंचगव्य के भक्षण से तत्क्षण जन्मभर के पापों से छूटना लिखा है। यथा—

“गोशकृद्द्विगुणं मूत्रं पयः स्यात्तच्चतुर्गुणम्।
घृतं तद्विगुणं प्रोक्तं पंचगव्ये तथा दधि॥
सौम्ये मुहूर्त्ते संयुक्ते पंचगव्यं तु यः पिबेत्।
यावज्जीवकृतात्पापात् तत्क्षणादेव मुच्यते॥”^{२४}

गोमय को उनके यहाँ, साक्षात् यमुना और गोमूत्र को नर्मदा तीर्थ वर्णन किया है। (गोमयं यमुनासाक्षात् गोमूत्रं नर्मदा शुभा।) विष्णुधर्मोत्तर में गोमूत्र के स्नान से सब पापों का नाश होना लिखा है। यथा—

गोमूत्रेण च यत्स्नानं सर्वाघविनिसूदनम्।

इसी प्रकार सूर्योपस्थापनादिक ऊपर का सारा कथन हिन्दुओं के अनेक ग्रन्थों में पाया जाता है। जैनधर्म से इस कथन का कोई सम्बन्ध नहीं मिलता, न जैनियों के आर्ष ग्रन्थों में ऐसा विधिविधान पाया जाता है और न जैनियों की प्रवृत्ति ही इस रूप देखने में आती है।

३. नदियों का पूजन और स्तवनादिक

जिनसेनत्रिवर्णाचार के चौथे पर्व में एक बार ही नहीं किन्तु दो बार गंगादिक नदियों को तीर्थदेवता और धर्मतीर्थ वर्णन किया है और साथ ही उन्हें अर्घ चढ़ाकर उनके पूजन करने का विधान लिखा है। अर्घ चढ़ाते समय नदियों की स्तुति में जो श्लोक दिये हैं, उनमें से कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

“पद्महृदसमुद्भूता गंगा नाम्नी महानदी।
स्मरणाज्जायते पुण्यं मुक्तिलोकं च गच्छति॥
केसरीद्रहसंभूता रोहितास्या महापगा।
तस्याः स्पर्शनमात्रेण सर्वपापं व्यपोहति॥
महापुण्ड्रहृदोद्भूता हरिकान्ता महापगा।
सुवर्णार्घप्रदानेन सुखमाप्नोति मानवः॥
रुक्मी (?) शिखरिसंभूता नारी स्रोतस्विनी शुभा।
स्वर्णस्तेयादिजान् पापान् ध्यानाच्चैव विनश्यति॥
रुक्मिणीगिरिसंभूता नरकान्ता सुसेवनात्।
पातकानि प्रणश्यन्ति तमः सूर्योदये यथा॥

२४. देखो शब्दकल्पद्रुमकोश में ‘पंचगव्य’ शब्द। + ‘गोमयं यमुनासाक्षात् गोमूत्रं नर्मदा शुभा।’

अनेकहृदसंभूता नद्यः सागरसंयुताः ।
मुक्तिसौभाग्यदात्र्यश्च सर्वे तीर्थाधिदेवताः॥”

इन श्लोकों में लिखा है कि ‘गंगानदी के स्मरण से पुण्य की प्राप्ति होती है और स्मरण करनेवाला मुक्तिलोक को चला जाता है, रोहितास्या नदी के स्पर्शनमात्र से सब पाप दूर हो जाते हैं, हरिकान्ता नदी को सुवर्णार्घ देने से सुख की प्राप्ति होती है, नारी नदी के ध्यान से ही चोरी आदि से उत्पन्न हुए सब पाप नष्ट हो जाते हैं, नरकान्ता नदी की सेवा करने से सर्व पाप इस तरह नाश हो जाते हैं, जिस तरह कि सूर्य के सन्मुख अंधकार विलय जाता है, और अन्तिम वाक्य यह है कि अनेक द्रव्यों से उत्पन्न होनेवाली और समुद्र में जा मिलनेवाली अथवा समुद्रसहित सभी नदियाँ तीर्थदेवता हैं और सभी मुक्ति तथा सौभाग्य की देनेवाली हैं। इस प्रकार नदियों के स्मरण, ध्यान, स्पर्शन या सेवन से सब सुख सौभाग्य और मुक्ति का मिलना तथा सम्पूर्ण पापों का नाश होना वर्णन किया है। इन श्लोकों तथा अर्घों के चढ़ाने के बाद स्नान का एक संकल्प दिया है। उसमें भी मन, वचन, काय से उत्पन्न होने वाले समस्त पापों और सम्पूर्ण अरिष्टों को नाश करने के लिए तथा सर्वकार्यों की सिद्धि के निमित्त देवब्राह्मण के सन्मुख नदी तीर्थ में स्नान करना लिखा है। यथा—

“...^{२५}पुण्यतिथौ सर्वारिष्टविनाशार्थं शांतिकपौष्टिकादिसकलकर्मसिद्धिसाधनयंत्र-मंत्र-तंत्र-विद्या-प्रभावकसिद्धिसाधकसंसिद्धिनिमित्तं कायिकवाचिकमानसिकचतुर्विधपापक्षयार्थं देवब्राह्मणसन्निधौ देहशुद्ध्यर्थं सर्वपापक्षयार्थं अमुकतीर्थे स्नानविधिना स्नानमहं करिष्ये।”

यह सब कथन जैनमत के बिल्कुल विरुद्ध है। जैनधर्म में न नदियों को ‘धर्मतीर्थ’ माना है और न ‘तीर्थदेवता’। जैनसिद्धान्त के अनुसार नदियों में स्नान करने या नदियों का ध्यानादिक करने मात्र से पापों का नाश नहीं हो सकता। पापों का नाश करने के लिए वहाँ सामायिक, प्रतिक्रमण, ध्यान और तपश्चरणादिक कुछ दूसरे ही उपायों का वर्णन है। वास्तव में ये सब बातें हिन्दूधर्म की हैं। नदियों में ऐसी अद्भुत शक्ति की कल्पना उन्हीं के यहाँ की गयी है और इसीलिए हर साल लाखों हिन्दू भाई दूर-दूर से अपना बहुत-सा द्रव्य खर्च करके हरिद्वार आदि तीर्थों पर स्नान के लिए जाते हैं। हिन्दुओं के ‘आह्निक सूत्रावलि’ नाम के ग्रन्थ में हेमाद्रिकृत एक लम्बा-चौड़ा स्नान का ‘संकल्प’ दिया है। इस संकल्प में बड़ी तफ़सील के साथ गद्यपद्य द्वारा उन पापों को दिखलाया है, जिनको गंगादिक नदियाँ दूर कर सकती हैं और जिनके दूर करने की स्नान के समय उनसे प्रार्थना की जाती है। शायद ही कोई पाप का भेद ऐसा रहा हो जिनका नाम इस संकल्प में न आया हो। पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ उसका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

“रागद्वेषादिजनितं कामक्रोधेन यत्कृतम्।
हिंसानिद्रादिजं पापं भेददृष्ट्या च यन्मया॥

२५. अमावस्या तथा श्रावण की पौर्णमासी को इसी पर्व में पुण्यतिथि लिखा है और उनमें स्नान की प्रेरणा की है।

परकार्यापहरणं परद्रव्योपजीवनम्।
ततोऽज्ञानकृतं वापि कायिकं वाचिकं तथा॥
मानसं त्रिविधं पापं प्रायश्चित्तैरनाशितम्।
तस्मादशेषपापेभ्यस्त्राहि त्रैलोक्यपावनि॥”

“...इत्यादि प्रकीर्णपातकानां एतत्कालपर्यन्तं संचितानां लघुस्थूलसूक्ष्माणां च निःशेषपरिहारार्थं ...देवब्राह्मणसवितासूर्यनारायणसनिधौ गंगाभागीरथ्यां अमुक तीर्थे वा प्रवाहाभिमुखं स्नानमहं करिष्ये॥”

इससे साफ़ जाहिर है कि त्रिवर्णाचार का यह सब कथन हिन्दूधर्म का कथन है। हिन्दूधर्म के ग्रन्थों से कुछ नामादिक का परिवर्तन करके लिया गया है। और इसे जबरदस्ती जैनमत की पोशाक पहनाई गई है। परन्तु जिस तरहसिंह की खाल ओढ़ने से कोई गीदड़ सिंह नहीं बन सकता, उसी तरह इस स्नानप्रकरण में कहीं-कहीं अर्हन्तादिक का नाम तथा जैनमत की १४ नदियों का सूत्रादिक दे देने से यह कथन जैनमत का नहीं हो सकता। जैनियों के प्रसिद्ध आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी नदी-समुद्रों में इस प्रकार धर्मबुद्धि से स्नान करने का निषेध करते हैं और उसे साफ़ तौर पर लोकमूढ़ता बतलाते हैं। यथा—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥
जैन विद्यारत्नकरण्डकश्रावकाचारः।

सिद्धान्तसार ग्रन्थ में पृथ्वी, अग्नि, जल और पिप्पलादिक को देवता माननेवालों पर खेद प्रकट किया गया है। यथा—

“पृथिवीं ज्वलनं तोयं देहलीं पिप्पलादिकान्।
देवतात्वेन मन्यन्ते ये ते चिन्त्या विपश्चिता॥४४॥

इसी प्रकार जैन शास्त्रों में बहुत से प्रमाण मौजूद हैं, जो यहाँ अनावश्यक समझकर छोड़े जाते हैं। और जिनसे साफ़ प्रकट है कि न नदियाँ धर्मतीर्थ हैं, न तीर्थदेवता और न उनमें स्नान करने से पापों का नाश हो सकता है। इसलिए त्रिवर्णाचार का यह सब कथन जैनमत के विरुद्ध है।

४. पितरादिकों का तर्पण

हिन्दुओं के यहाँ स्नान का अंगस्वरूप ‘तर्पण’ नाम का एक नित्यकर्म वर्णन किया है। पितरादिकों को पानी या तिलोदक (तिलों के साथ पानी) आदि देकर उनकी तृप्ति की जाती है, इसी का नाम तर्पण है। तर्पण के जल की देव और पितरगण इच्छा रखते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं, ऐसा उनका सिद्धान्त है। यदि कोई मनुष्य नास्तिक्य भाव से अर्थात् यह समझकर कि “देव पितरों को जलादिक नहीं पहुँचा सकता” तर्पण नहीं करता है, तो जल के इच्छुक पितर उसके देह का रुधिर पीते हैं, ऐसा उनके यहाँ योगियाज्ञवल्क्य का वचन है। यथा—

“नास्तिव्यभावाद् यश्चापि न तर्पयति वै सुतः।

पिबन्ति देहरुधिरं पितरो वै जलार्थिनः॥”

जिनसेनत्रिवर्णाचार (चतुर्थ पर्व) में भी स्नान के बाद ‘तर्पण’ को नित्य कर्म वर्णन किया है और उसका सब आशय और अभिप्राय प्रायः वही रखा है, जो हिन्दुओं का सिद्धान्त है। अर्थात् यह प्रकट किया है कि पितरादिक को पानी या तिलोदकादि देकर उनकी तृप्ति करना चाहिए। तर्पण के जल की देव पितरगण इच्छा रखते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं। जैसा कि नीचे लिखे वाक्यों से प्रकट है—

“असंस्कारश्च ये केचिज्जलाशाः पितरः सुराः।

तेषां संतोषतृप्त्यर्थं दयिते सलिलं मया॥”

अर्थात् जो कोई पितर संस्कारविहीन मरे हों, जल की इच्छा रखते हों और जो कोई देव जल की इच्छा रखते हों, उन सबके संतोष और तृप्ति के लिए मैं पानी देता हूँ अर्थात् तर्पण करता हूँ।

“उपघातापघाताभ्यां ये मृता वृद्धबालकाः।

युवानश्चामगर्भाश्च तेषां तोयं ददाम्यहम्॥”

अर्थात् जो कोई बूढ़े, बालक, जवान और गर्भस्थ जीव उपघात या अपघात से मरे हों, मैं उन सबको पानी देता हूँ।

ये पितृमातृद्वयवंशजाताः गुरुस्वसृबन्धू च बान्धवाश्च।

ये लुप्तकर्माश्च सुताश्च दाराः पशवस्तथा लोपगतक्रियाश्च॥

ये पंगवश्चान्धविरूपगर्भाः आमच्युता ज्ञातिकुले मदीये।

आषोडशाद्वा (?) द्वयवंशजाताः, मित्राणि शिष्याः सुतसेवकाश्च।

पशुवृक्षाश्च ये जीवा ये च जन्मान्तरङ्गताः।

ते सर्वे तृप्तिमायान्तु स्वधा तोयं ददाम्यहम्॥

इन पद्यों में उन सबको तर्पण किया गया है, जो पितृवंश या मातृवंश में उत्पन्न हुए हों, गुरुबन्धु या स्वसृ-बन्धु हों, लुप्तकर्मा हों, सुता हों, स्त्रियाँ हों, अपनी जातिकुल के लंगड़े-लूले हों, अन्धे हों, विरूप हों, गर्भच्युत हों, मित्र हों, शिष्य हों, सुत हों, सेवक हों, पशु हों, वृक्ष हों और जो सब जन्मान्तर को प्राप्त हो चुके हों। अन्त में लिखा है कि मैं इन सबको ‘स्वधा’ शब्द पूर्वक पानी देता हूँ। ये सब तृप्ति को प्राप्त होओ।

“अस्मद्गोत्रे च वंशे च ये केचन मम हस्तजलस्य वांछां कुर्वन्ति तेभ्यस्तिलोदकेन तृप्यन्तां नमः।”

अर्थात् हमारे गोत्र और वंश में जो कोई मेरे हाथ के पानी की वांछा करते हों, मैं उन सबको तिलोदक से तृप्त करता हूँ और नमस्कार करता हूँ।

“केचिदस्मत्कुले जाता अपुत्रा व्यन्तराः सुराः।

ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥१३॥”

अर्थात् हमारे कुल में से जो कोई पुत्रहीन मनुष्य मरकर व्यन्तर जाति के देव हुए हों, उन्हें मैं धोती आदि वस्त्र से निचोड़ा हुआ पानी देता हूँ, वे उसे ग्रहण करें। यह तर्पण के बाद धोती निचोड़ने का मंत्र है^{२६}। इसके बाद ‘शरीर के अंगों पर से हाथ या वस्त्र से पानी नहीं पोंछना चाहिए, नहीं तो पुनः स्नान करने से शुद्धि होगी’ ऐसा विधान करके उसके कारणों को बतलाते हुए लिखा है कि—

“तिस्रः कोट्योर्धकोटी च यावद्रोमाणि मानुषे।

वसन्ति तावत्तीर्थानि तस्मान्न परिमार्जयेत्॥१७॥

पिबन्ति शिरसो देवाः पिबन्ति पितरो मुखात्।

मध्याच्च यक्षगंधर्वा अधस्तात्सर्वजन्तवः॥१८॥”

अर्थात् मनुष्य के शरीर में जो साढ़े तीन करोड़ रोम हैं, उतने ही तीर्थ हैं। दूसरे, शरीर पर जो स्नान जल रहता है उसे मस्तक पर से देव, मुख पर से पितर, शरीर के मध्यभाग पर से यक्ष, गन्धर्व और नीचे के भाग पर से अन्य सब जन्तु पीते हैं। इसलिए शरीर के अंगों को पोंछना नहीं चाहिए।

जैनसिद्धान्त से जिन पाठकों का कुछ भी परिचय है, वे ऊपर के इस कथन से भले प्रकार समझ सकते हैं कि, त्रिवर्णाचार का यह तर्पणविषयक कथन कितना जैनधर्म के विरुद्ध है। जैनसिद्धान्त के अनुसार न तो देव पितरगण पानी के लिए भटकते या मारे मारे फिरते हैं और न तर्पण के जल की इच्छा रखते या उसको पाकर तृप्त और सन्तुष्ट होते हैं। इसी प्रकार न वे किसी की धोती आदि का निचोड़ा हुआ पानी ग्रहण करते हैं और न किसी के शरीर पर से स्नानजल को पीते हैं। ये सब हिन्दूधर्म की क्रियायें और कल्पनायें हैं। हिन्दुओं के यहाँ साफ़ लिखा है कि जब कोई मनुष्य स्नान के लिए जाता है, तब प्यास से विह्वल हुए देव और पितरगण पानी की इच्छा से वायु का रूप धारण करके, उसके पीछे-पीछे जाते हैं। और यदि वह मनुष्य स्नान करके वस्त्र (धोती आदि) निचोड़ देता है तो वे देव पितर निराश होकर लौट आते हैं। इसलिए तर्पण के पश्चात् वस्त्र निचोड़ना चाहिए, पहले नहीं। जैसा कि निम्नलिखित वचन से प्रकट है—

“स्नानार्थमभिगच्छन्तं देवाः पितृगणैः सह।

वायुभूतास्तु गच्छन्ति तृषार्ताः सलिलार्थिनः॥”

“निराशास्ते निवर्तन्ते वस्त्रनिष्पीडने कृते।

अतस्तर्पणानन्तरमेव वस्त्रं निष्पीडयेत्॥”

—स्मृतिरत्नाकरे वृद्धवसिष्ठः।

२६. हिन्दुओं के यहाँ इससे मिलता जुलता मंत्र इस प्रकार है—

“ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रजा मृताः। ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥” —स्मृतिरत्नाकरः।

परन्तु जैनियों का ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जैनियों के यहाँ मरने के पश्चात् समस्त संसारी जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार देव, मनुष्य, नरक और तिर्यच इन चार गतियों में से किसी न किसी गति में अवश्य चले जाते हैं। और अधिक से अधिक तीन समय तक 'निराहारक' रहकर तुरन्त दूसरा शरीर धारण कर लेते हैं। इन चारों गतियों से अलग पितरों की कोई निराली गति नहीं होती, जहाँ वे बिल्कुल परावलम्बी हुए असंख्यात या अनन्त काल तक पड़े रहते हों। मनुष्यगति में जिस तरह वर्तमान मनुष्य किसी के तर्पणजल को पीते नहीं फिरते उसी तरह कोई भी पितर किसी भी गति में जाकर तर्पण के जल की इच्छा से विह्वल हुआ उसके पीछे मारा-मारा नहीं फिरता। प्रत्येक गति में जीवों का आहारविहार, उनकी उस गति, स्थिति और देशकाल के अनुसार होता है। इस तरह त्रिवर्णाचार का यह सब कथन जैनधर्म के विरुद्ध है और कदापि जैनियों द्वारा माने जाने के योग्य नहीं हो सकता। अस्तु। तर्पण का यह सम्पूर्ण विषय बहुत लम्बा चौड़ा है। त्रिवर्णाचार का कर्ता इस धर्मविरुद्ध तर्पण को करते करते बहुत दूर निकल गया है। उसने तीर्थकरों, केवलियों, गणधरों, ऋषियों, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों, काली आदि देवियों, १४ कुलकरों, कुलकरों की स्त्रियों तीर्थकरों के माता-पिताओं, चार पीढ़ी तक स्व माता पितादिकों, तीर्थकरों को आहार देने वालों, तीर्थकरों के वंशों, १२ चक्रवर्तियों, ९ नारायणों, ९ प्रतिनारायणों, ९ बलभद्रों, ९ नारदों, महादेवादि ११ रुद्रों इत्यादि को अलग-अलग नाम लेकर, पानी दिया है, इतना ही नहीं, बल्कि नदियों, समुद्रों, जंगलों, पहाड़ों, नगरों, द्वीपों, वेदों, वेदांगों, कालों, महीनों, ऋतुओं और वृक्षों को भी उनके अलग-अलग नामों का उच्चारण करके, पानी दिया है। हिन्दुओं के यहाँ भी ऐसा ही होता है। अर्थात् वे नारायण और रुद्रादि देवों के साथ नदियों समुद्रों आदि का भी तर्पण करते हैं।^{२७अ.}

उनके यहाँ देवताओं का कुछ ठिकाना नहीं है। वे नदी-समुद्रों आदि को भी देवता मानते हैं। परन्तु मालूम नहीं कि त्रिवर्णाचार के कर्ता ने इन नद्यादिकों को देवता समझा है, ऋषि समझा है या पितर समझा है। अथवा कुछ भी न समझकर 'नकल में अकल को दखल नहीं' इस लोकोक्ति पर अमल किया है। कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, त्रिवर्णाचार के कर्ता ने हिन्दूधर्म के इस तर्पणसिद्धान्त को पसंद किया है और उसे जैनियों में, जैन तीर्थकरादिक के नामादि का लालचरूपी रंग देकर, चलाना चाहा है परन्तु आखिर मुलम्मा मुलम्मा ही होता है। एक न एक दिन असलियत खुले बिना नहीं रहती।

२७.अ. ऋषियों के तर्पण में हिन्दुओं की तरह 'पुराणाचार्य' का भी तर्पण किया है और हिन्दुओं के 'इतराचार्य' के स्थान में 'नवीनाचार्य' का तर्पण किया है। जैसा कि कात्यायन परिशिष्ट सूत्र के निम्नलिखित एक अंश से प्रकट है—
 “ततस्तर्पयेद्ब्रह्माणं पूर्वं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिं देवांश्छदांसि वेदानृषीन्पुराणाचार्यान्गन्धर्वानितराचार्यान्संवत्सरं सावयवं देवीरप्सरसो देवानुगान्नागान्सागरान्पर्वतान् सरितो मनुष्यान्यक्षान् रक्षांसि पिशाचान्सुपर्णान् भूतानि पशून्वन-स्पतीनोषधीभूत-ग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यतामित्योकारपूर्वम्।”

५. पितरादिकों का श्राद्ध

जिनसेन त्रिवर्णाचार के चौथे पर्व में तर्पण की तरह 'श्राद्ध' का भी एक विषय दिया है और इसे भी हिन्दूधर्म से उधार लेकर रखा है। पितरों का उद्देश्य करके दिया हुआ अन्नादिक पितरों के पास पहुँच जाता है, ऐसी श्राद्ध से शास्त्रोक्त विधि के साथ जो अन्नादिक दिया जाता है, उसका नाम श्राद्ध है।^{२७ब} हिन्दुओं के यहाँ तर्पण और श्राद्ध, ये दोनों विषय क़रीब क़रीब एक ही सिद्धान्त पर अवस्थित हैं। दोनों को 'पितृयज्ञ' कहते हैं। भेद सिर्फ़ इतना है कि तर्पण में अंजलि से जल छोड़ा जाता है, किसी ब्राह्मणादिक को पिलाया नहीं जाता। देव-पितरगण उसे सीधा ग्रहण कर लेते हैं और तृप्त हो जाते हैं। परन्तु श्राद्ध में ब्राह्मणों को भोजन खिलाया जाता है या सूखा अन्नादिक दिया जाता है। और जिस प्रकार 'लैटर बक्स' में डाली हुई चिट्ठी दूर-देशान्तरों में पहुँच जाती है, उसी प्रकार ब्राह्मणों के पेट में से वह भोजन देव-पितरों के पास पहुँचकर उनकी तृप्ति कर देता है। इसके सिवाय कुछ क्रियाकाण्ड का भी भेद है। त्रिवर्णाचार के कर्ता ने जब देव-पितरों को पानी देकर उनका विस्तार के साथ तर्पण किया है, तब वह श्राद्ध को कैसे छोड़ सकता था? पितरों की अधूरी तृप्ति उसे कब इष्ट हो सकती थी? इसलिए उसने श्राद्ध को भी अपनाया है। और हिन्दुओं का श्राद्धविषयक प्रायः सभी क्रियाकाण्ड त्रिवर्णाचार में दिया है। जैसा कि श्राद्ध के नित्य, नैमित्तिक, दैविक, एकतंत्र, पार्वण, अन्वष्टका, वृद्धि, क्षयाह, अपर-पक्ष, कन्यागत, गजच्छाया और महलयादि भेदों का कथन करना, श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों का पूजन करना, नियुक्त ब्राह्मणों से 'स्वागत', 'सुखागत' इत्यादि निर्दिष्ट प्रश्नोत्तरों का किया जाना, तिल, कुश और जल हाथ में लेकर मासादिक तथा गोत्रादिक के उच्चारणपूर्वक 'अद्य मासोत्तमे मासे...' इत्यादि संकल्प बोलना, अन्वष्टकादि खास खास श्राद्धों के सिवाय अन्य श्राद्धों में पितादिक का सपत्नीक श्राद्ध करना, अन्वष्टकादि श्राद्धों में माता का श्राद्ध अलग करना, नित्य श्राद्धों में आवाहनादि नहीं करना नित्य श्राद्ध को छोड़कर अन्य श्राद्धों में 'विश्वेदेवों' का भी श्राद्ध करना, विश्वेदेवों के ब्राह्मण को पितरों के ब्राह्मणों से अलग बिठलाना, देवपात्रों और पितृपात्रों को अलग अलग रखना, रक्षा का विधान करना और तिल बखरेना, नियुक्त ब्राह्मणों की इजाजत से विश्वेदेवों तथा पिता, पितामहादिक (तीन पीढ़ी तक) पितरों का अलग अलग आह्वान करना, विश्वेदेवों तथा पितरों को अलग अलग आसन देकर बिठलाना और उनका अलग अलग पूजन करना, गंगा, सिंधु, सरस्वती को अर्घ देना, ब्राह्मणों के हाथ धुलाना और उनके आगे भोजन के पात्र रखना, ब्राह्मणों की आज्ञा से 'अग्रौ करण' करना, जौं (यव) बखरेना, प्रजापति को अर्घ देना, अमुक देव या पितर को यह भोजन मिले, ऐसे आशय का मंत्र बोलकर नियुक्त ब्राह्मणों को तृप्तिपर्यंत भोजन कराना, तृप्ति का प्रश्नोत्तर किया जाना, ब्राह्मणों से शेषान्न को इष्टों के साथ भोजन करने की इजाजत लेना, भूमि

२७ ब. श्राद्धः-शास्त्रोक्तविधानेन पितृकर्म इत्यमरः। पितृद्देश्यकं श्रद्धयान्नादिदानम्। "श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते" इति पुलस्त्यवचनात् श्रद्धया अन्नादेदानं श्राद्धं इति वैदिकप्रयोगाधीनयौगिकम्। इति श्राद्धतत्त्वम्। अपि च सम्बोधनपदोपनीतान् पित्रादीन् चतुर्थ्यन्तपदेनोद्दिश्य हविस्त्यागः श्राद्धम्। -शब्दकल्पद्रुमः।

को लीपकर पिण्ड देना, आचमन और प्राणायाम का किया जाना, जप करना, कभी जनेऊ को दाहने कंधे पर और कभी बाएँ कंधे पर डालना, जिसको 'अपसव्य' और 'सव्य' होना कहते हैं, आशीर्वाद का दिया जाना, ब्राह्मणों से 'स्वधा' शब्द कहलाना, और उनको दक्षिणा देकर बिदा करना, इत्यादि—

ऊपर के इस क्रियाकाण्ड से, पाठकों को यह तो भले प्रकार मालूम हो जायेगा कि इस त्रिवर्णाचार में हिन्दूधर्म की कहाँ तक नक़ल की गई है। परन्तु इतना और समझ लेना चाहिए कि इस ग्रन्थ में हिन्दूधर्म के आशय को लेकर केवल क्रियाओं की ही नक़ल नहीं की गई, बल्कि उन शब्दों की भी अधिकतर नक़ल की गई है, जिन शब्दों में ये क्रियायें हिन्दूधर्म के ग्रन्थों में पाई जाती हैं। और तो क्या, बहुत से वैदिक मंत्र भी ज्यों के त्यों हिन्दूग्रन्थों से उठाकर इसमें रखे गये हैं। नीचे जिनसेन त्रिवर्णाचार से, उदाहरण के तौर पर, कुछ वाक्य और मंत्र उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे श्राद्ध का आशय, उद्देश, देवपितरों की तृप्ति और नक़ल वगैरह का हाल और भी अच्छी तरह से पाठकों पर विदित हो जायेगा—

नित्यश्राद्धेऽर्थगंधाद्यैर्द्विजानर्चत्स्वशक्तिः ।

सर्वान्पितृगणान्सम्यक् तथैवोद्दिश्य योजयेत्॥१॥

इस श्लोक में नित्य श्राद्ध के समय ब्राह्मणों का पूजन करना और सर्व पितरों को उद्देश्य करके श्राद्ध करना लिखा है। इसी प्रकार दूसरे स्थानों पर भी 'ब्राह्मणं गंधपुष्पाद्यैः समर्चयेत्' '२८ अस्मत्पितुर्निमित्तं नित्यश्राद्धमहं करिष्ये, इत्यादि वचन दिये हैं।

नावाहनं स्वधाकारः पिंडाग्नौकरणादिकम् ।

ब्रह्मचर्चादिनियमो विश्वेदेवास्तथैव च॥२॥

इस श्लोक में उन कर्मों का उल्लेख किया है जो नित्य श्राद्ध में वर्जित हैं। अर्थात् यह लिखा है कि नित्य श्राद्ध में आवाहन, स्वधाकार, पिंडदान, अग्नौकरणादिक, ब्रह्मचर्यादि का नियम और विश्वेदेवों का श्राद्ध नहीं किया जाता। यह श्लोक हिन्दूधर्म से लिया गया है। हिन्दुओं के 'आह्निक सूत्रावलि' ग्रन्थ में इसे व्यास जी का वचन लिखा है।

२९ दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।

पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥५॥

अर्थात्— पितरों की प्रीति प्राप्त करने के अभिलाषी को चाहिए कि वह अन्नादिक या जल से अथवा दूध और मूल फलों से नित्य श्राद्ध करे। इससे प्रकट है कि पितरों के उद्देश्य से श्राद्ध किया जाता है और पितरगण उससे खुश होते हैं। यह श्लोक मनुस्मृति के तीसरे अध्याय से उठाकर रखा गया है और इसका नम्बर वहाँ ८२ है।

२८. मैं अपने पिता के निमित्त नित्य श्राद्ध करता हूँ।

२९. मनुस्मृति में 'दद्यात्' के स्थान में 'कुर्यात्' लिखा है। परन्तु मिताक्षरादि ग्रन्थों में 'दद्यात्' के साथ ही इसका उल्लेख किया है।

अप्येकमाशयेद्विप्रं पितृयज्ञार्थसिद्धये।

अदैवं नास्ति चेदन्यो भोक्ता भोज्यमथापि वा॥६॥

अप्युद्धृत्य यथाशक्ति किञ्चिदन्नं यथाविधि।

पितृभ्योऽथ मनुष्येभ्यो दद्यादहरहर्द्विजे॥७॥

पितृभ्य इदमित्युक्त्वा ३०स्वधावाच्यं च कारयेत्॥ (पूर्वाद्धं)

ये सब वाक्य कात्यायन स्मृति (१३वें खण्ड) के हैं। वहीं से उठाकर त्रिवर्णाचार में रक्खे गये हैं। इनमें लिखा है कि 'यदि कोई दूसरा ब्राह्मण भोजन करनेवाला न मिले अथवा भोजन की सामग्री अधिक न हो, तो पितृयज्ञ की सिद्धि के लिए कम से कम एक ही ब्राह्मण को भोजन करा देना चाहिए। और यदि इतना भी न हो सके, तो कुछ थोड़ा सा अन्न पितरादिकों के वास्ते ब्राह्मण को जरूर दे देना चाहिए। पितरों के लिए जो दिया जाये उसके साथ में 'पितृभ्यः इदं स्वधा' यह मंत्र बोलना चाहिए।'

“अन्वष्टकासु वृद्धौ च सिद्धक्षेत्रे क्षयेऽहनि।

मातुः श्राद्धं पृथक्कुर्यादन्यत्र पतिना सह॥”

अर्थात् अन्वष्टका, वृद्धि, सिद्धक्षेत्र, क्षयाह इन श्राद्धों में माता का श्राद्ध अलग करना चाहिए। दूसरे अवसरों पर पति के संग करे। यह श्लोक भी हिन्दूधर्म का है और मिताक्षरा में इसी प्रकार से दिया है। सिर्फ दूसरे चरण में कुछ थोड़ा-सा भेद है। मिताक्षरा में 'क्षयेऽहनि' से पूर्व 'गयायां च' ऐसा पद दिया है और इसके द्वारा गयाजी में जो श्राद्ध किया जाये उसको सूचित किया है। त्रिवर्णाचार में इसको बदलकर इसकी जगह 'सिद्धक्षेत्रे' बनाया गया है।

“आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः।

ये यत्र योजिताः श्राद्धे सावधाना भवन्तु ते॥”

हिन्दुओं के यहाँ ३१'विश्वेदेवा' नाम के कुछ देवता हैं, जिनकी संख्या १० है। ऊपर का यह श्लोक उन्हीं के आवाहन का मंत्र है। मिताक्षरा में इसे विश्वेदेवों के आवाहन का स्मार्त मंत्र लिखा है। हिन्दुओं के गारुडादि ग्रन्थों में भी यह मंत्र पाया जाता है। जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी यह मंत्र विश्वेदेवों के आवाहन में प्रयुक्त किया गया है। परन्तु जरा से परिवर्तन के साथ। अर्थात् त्रिवर्णाचार में 'महाबलाः' के स्थान में 'चतुर्दश' शब्द दिया है। बाकी मंत्र बदस्तूर रखा है। त्रिवर्णाचार के कर्ता ने जैनियों के १४ कुलकरों को 'विश्वेदेवा' वर्णन किया है। इसीलिए उसका यह परिवर्तन मालूम होता है। परन्तु जैनियों के आर्ष ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं पाया जाता।

“आर्त्तरौद्रमृता ये न ज्ञातिनां कुलभूषणाः।

उच्छिष्टभागं गृह्णन्तु दर्भेषु विकिराशनम्॥

३०. कात्यायनस्मृति में 'स्वधाकारमुदीरयेत्' ऐसा लिखा है।

३१. यथा-“ऋतुर्दक्षो वसुः सत्यः कामः कालस्तथाध्वनिः (धृतिः)। रोचकश्चार्द्रवाश्चैव तथा चान्ये पुरुरवाः॥ विश्वेदेवा भवन्त्येते दश सर्वत्र पूजिताः।” -वह्निपुराण।

अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम।

भूमौ दत्तेन तृप्यन्तु तृप्ता यान्तु परां गतिम्॥”

अर्थात् जो कोई आर्त या रौद्र परिणामों के साथ मरे हों, जातियों के भूषण न हों अर्थात् क्षुद्र मनुष्य हों वे सब दर्भ के ऊपर डाले हुए भोजन के इस उच्छिष्ट भाग को ग्रहण करो। और जो मेरे कुल में अग्नि से दग्ध हुए हों अथवा जिनको अग्नि का दाह प्राप्त न हुआ हो वे सब पृथ्वी पर डाले हुए इस भोजन से तृप्त होओ और तृप्त होकर उत्तम गति को प्राप्त होओ। ये दोनों श्लोक पिण्ड देते समय के मंत्र हैं। दूसरा श्लोक हिन्दुओं के मिताक्षरा और गारुडादि ग्रन्थों में भी पाया जाता है। और पहले श्लोक का आशय मनुस्मृति के तीसरे अध्याय के श्लोक नं० २४५-२४६ से मिलता जुलता है। त्रिवर्णाचार के इन श्लोकों से साफ़ जाहिर है कि पितरगण पिण्ड ग्रहण करते हैं और उसे पाकर तृप्त होते तथा उत्तम गति को प्राप्त करते हैं।

एक स्थान पर त्रिवर्णाचार के इसी प्रकरण में मोदक और विष्टर का पूजन करके और प्रत्येक मोदकादिक पर ‘नमः पितृभ्यः’ इस मंत्र के उच्चारणपूर्वक डोरी बाँधकर उन्हें पितरों के लिए ब्राह्मणों को देना लिखा है और इस मोदकादि के प्रदान से पितरों की अक्षय तृप्ति वर्णन की है और उनका स्वर्गवास होना लिखा है। यथा—

“...मातृणां मातामहानां चाक्षया तृप्तिरस्तु।”

“अनेन मोदकप्रदानेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपाणां आचार्याणां तृप्तिरस्तु। स्वर्गे वासोऽस्तु।” श्राद्ध के अन्त में आशीर्वाद देते हुए लिखा है कि—

“आयुर्विपुलतां यातु कर्णे यातु महत् यशः।

प्रयच्छन्तु तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥”

अर्थात्— आयु की वृद्धि हो, महत् यश फैले और मनुष्यों के पितरगण प्रसन्न होकर श्राद्ध करनेवालों को राज्य देवें। इस कथन से भी त्रिवर्णाचार में श्राद्ध द्वारा पितरों का प्रसन्न होना प्रकट किया है। इस श्लोक का उत्तरार्द्ध और याज्ञवल्क्य स्मृति में दिये हुए श्राद्धप्रकरण के अन्तिम श्लोक का उत्तरार्द्ध दोनों एक हैं। सिर्फ प्रयच्छन्ति की जगह यहाँ प्रयच्छन्तु बनाया गया है।

(१) “**ॐ विश्वेभ्यो देवेभ्य इदमासनं स्वाहा** (२) **ॐ अमुकगोत्रेभ्यः पितापितामहाप्रपितामहेभ्यः सपत्नीकेभ्य इदमासनं स्वधा** (३) **ॐ विश्वेदेवानामावाहयिष्ये** (४) **ॐ आवाहय** (५) **ॐ अग्नौकरणमहं करिष्ये** (६) **ॐ कुरुष्व** (७) **ॐ अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा** (८) **ॐ सोमाय पितृमते स्वाहा**। (९) **आपोहीष्टा मयो भुवः** (१०) **ॐ पृथिवीते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्य मुखे अमृते अमृतं जुमोमि स्वाहा** (११) **तिलोसि सोमदेवत्यो गोसवो देवनिर्मितः। प्रत्नवद्भिः पृक्तः स्वधया पितृल्लोकान्युणार्हि नः स्वाहा॥”**

ये सब हिन्दुओं के मंत्र हैं। और गारुड या मिताक्षरादि हिन्दू ग्रन्थों से उठाकर रक्खे गये हैं। इस प्रकार यह श्राद्ध का सारा प्रकरण हिन्दूधर्म से लिया गया है। इतने पर भी त्रिवर्णाचार का कर्ता

लिखता है कि मैं 'उपासकाध्ययन' में कही हुई श्राद्ध की विधि को वर्णन करता हूँ। यथा—

गणाधीशं श्रुतस्कंधमपि नत्वा त्रिशुद्धितः।

श्रीमच्छ्राद्धविधिं वक्ष्ये श्रावकाध्ययनोदिताम्॥”

यह सब लोगों को धोखा दिया गया है। वास्तव में, तर्पण की तरह, श्राद्ध का यह सब कथन जैनधर्म के विरुद्ध है। जैनधर्म से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। जैन सिद्धान्तों के अनुसार ब्राह्मणों को खिलाया हुआ भोजन या दिया हुआ अन्नादिक कदापि पितरों के पास नहीं पहुँच सकता। और न ऐसा करने से देव पितरों की कोई तृप्ति होती है।

६. सुपारी खाने की सजा

जिनसेनत्रिवर्णाचार के ९वें पर्व में लिखा है कि जो कोई मनुष्य पान को मुख में न रखकर, अर्थात् पान से अलग सुपारी खाता है वह सात जन्म तक दरिद्री होता है और अन्त समय में (मरते वक्त) उसको जिनेंद्र देव का स्मरण नहीं होता। यथा—

“अनिधाय मुखे पर्णं पूगं खादति यो नरः।

सप्तजन्मदरिद्रः स्यादन्ते नैव स्मरेज्जिनम्॥२३५॥”

पाठकगण, देखा, कैसा धार्मिक न्याय है! कहाँ तो अपराध और कहाँ इतनी सख्त सजा! क्या जैनियों की कर्मफिलासोफी और जैनधर्म से इसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है? कदापि नहीं। यह कथन हिन्दूधर्म के किसी ग्रन्थ से लिया गया है। हिन्दुओं के स्मृतिरत्नाकर ग्रन्थ में यह श्लोक बिल्कुल ज्यों का त्यों पाया जाता है। सिर्फ अन्तिम चरण का भेद है। वहाँ अन्तिम चरण 'नरकेषु निमज्जति' (नरकों में पड़ता है) इस प्रकार दिया है। त्रिवर्णाचार में इसी अन्तिम चरण को बदलकर उसके स्थान में “अन्ते नैव स्मरेज्जिनम्” ऐसा बनाया गया है। इस परिवर्तन से इतना जरूर हुआ है कि कुछ सजा कम हो गयी है। नहीं तो बेचारे को सात जन्म तक दरिद्री रहने के सिवाय, नरक में और जाना पड़ता।

७. ऋतुकाल में भोग न करनेवाली स्त्री की गति

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १२वें पर्व में गर्भाधान का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

“ऋतुस्नाता तु या नारी पतिं नैवोपविन्दति।

शुनी वृकी शृगाली स्याच्छूकरी गर्दभी च सा॥२७॥”

अर्थात्— ऋतुकाल में स्नान के पश्चात् जो स्त्री अपने पति से संभोग नहीं करती है वह मरकर कुत्ती, भेडिनी, गीदड़ी, सूअरी और गधी होती है। यह कथन बिल्कुल जैनधर्म के विरुद्ध है। और इसने जैनियों की सारी कर्मफिलासोफी को उठाकर ताल में रख दिया है। इसलिये यह कथन कदापि जैनाचार्यों का नहीं हो सकता। यह श्लोक भी ज्यों का त्यों या कुछ परिवर्तन के साथ, हिन्दूधर्म के किसी ग्रन्थ से लिया गया मालूम होता है। क्योंकि हिन्दूधर्म के ग्रन्थों में ही इस प्रकार की आज्ञायें प्रचुरता के साथ पाई जाती हैं। उनके यहाँ जब ऋतुस्नाता के साथ भोग न करने पर पुरुष को नरक में पहुँचाया है, तब क्या ऋतुस्नाता होकर भोग न करने पर स्त्री को तिर्यचगति में न भेजा होगा? जरूर

भेजा होगा। पराशर जी ने तो ऐसी स्त्री को भी सीधा नरक में ही भेजा है। और साथ ही बारम्बार विधवा होने का भी फ़तवा (धर्मादेश) दे दिया है। यथा—

ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नोपसर्पति।

सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः॥४-१४॥ पराशरस्मृतिः

इसी प्रकार हिन्दूधर्म के और बहुत से फुटकर श्लोक इस त्रिवर्णाचार में पाये जाते हैं, जो या तो ज्यों के त्यों और या कुछ परिवर्तन के साथ रखे गये हैं।

इस तरह धर्मविरुद्ध कथनों के ये कुछ थोड़े से नमूने हैं और इनके साथ ही इस ग्रन्थ की परीक्षा भी समाप्त की जाती है।

ऊपर के इस समस्त कथन से, पाठकगण, भले प्रकार विचार कर सकते हैं कि यह ग्रन्थ (जिनसेन त्रिवर्णाचार) कितना जाली, बनावटी तथा धर्मविरुद्ध कथनों से परिपूर्ण है और ऐसी हालत में यह कोई जैनग्रन्थ हो सकता है या नहीं। वास्तव में यह ग्रन्थ विषमिश्रित भोजन के समान त्याज्य है और कदापि विद्वानों में आदरणीय नहीं हो सकता। इसे गढ़कर ग्रन्थकर्ता ने, निःसन्देह, जैनसमाज के साथ बड़ा ही शत्रुता का व्यवहार किया है। यह सच पूछिये तो, सब ऐसे ही ग्रन्थों का प्रताप है, जो आजकल जैनसमाज अपने आदर्श से गिरकर अनेक प्रकार के मिथ्यात्वादि कुसंस्कारों में फँसा हुआ है। यदि जैनसमाज को अपने हित की इच्छा है तो उसे सावधान होकर शीघ्र ही ऐसे जाली और धर्मविरुद्ध ग्रन्थों का बहिष्कार करना चाहिए।

